CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राजस्थानी चित्रकला

डा. जयसिंह नीरज

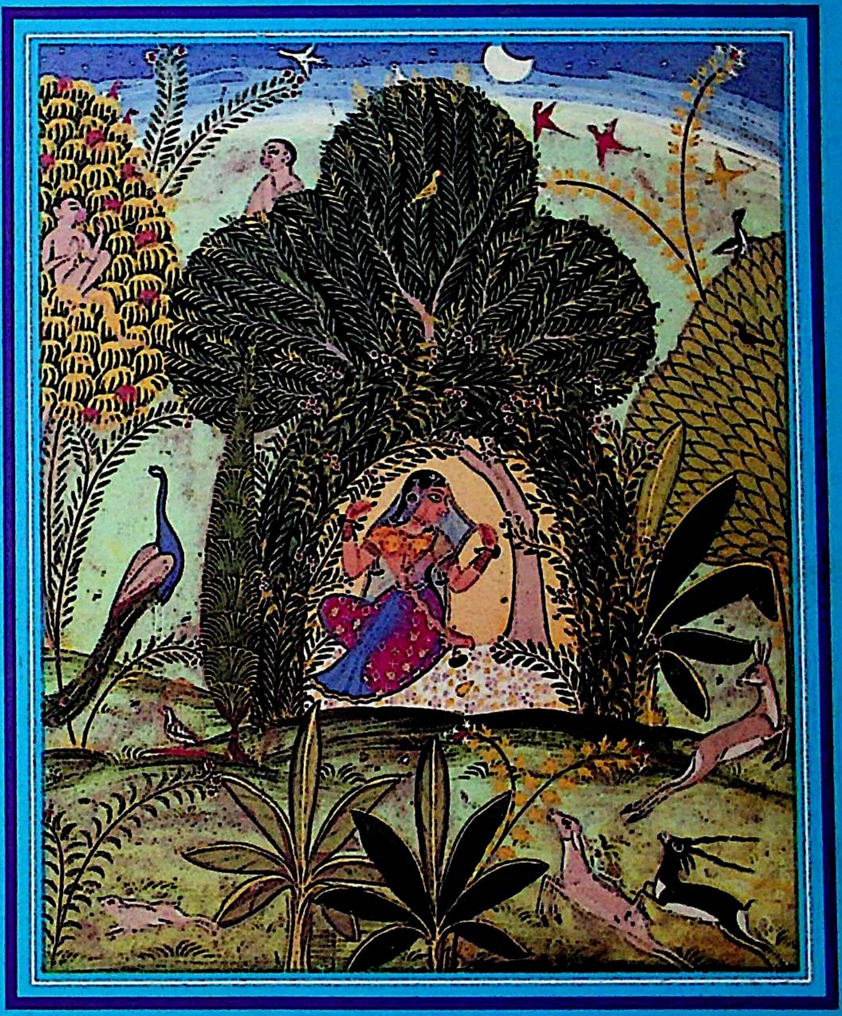

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राजस्थानी चित्रकला

आदरणीय डॉ. उर्मिला जी
को सादर
जयसिंह नीरज
30·3·97

डॉ. जयसिंह नीरज

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार की विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ-निर्माण योजना के अन्तर्गत राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर द्वारा प्रकाशित ।

प्रथम संस्करण : 1994

RAJASTHANI CHITRAKALA

ISBN 81-7137-106-X

मूल्य : 116.00 रुपये

© सर्वाधिकार प्रकाशक के अधीन

प्रकाशक :
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
ए-26/2, विद्यालय मार्ग, तिलक नगर,
जयपुर-302 004

लेज़र टाइप सैटिंग :
मै. इन्टॅलैक्ट्स
8/254, मालवीय नगर,
जयपुर

मुद्रक :
कोटावाला ऑफसैट, जयपुर
फोन : 376204

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रकाशकीय भूमिका

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी अपनी स्थापना के 24 वर्ष पूरे करके 15 जुलाई, 1993 को 25वें वर्ष में प्रवेश कर चुकी है। इस अवधि में विश्व-साहित्य के विभिन्न विषयों के उत्कृष्ट ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद तथा विश्वविद्यालय के शैक्षणिक स्तर के मौलिक ग्रन्थों को हिन्दी नें प्रकाशित कर अकादमी ने शिक्षकों, छात्रों एवं अन्य पाठकों की सेवा करने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है और इस प्रकार विश्वविद्यालय-स्तर पर हिन्दी में शिक्षण के मार्ग को सुगम बनाया है।

अकादमी की नीति हिन्दी में ऐसे ग्रन्थों का प्रकाशन करने की रही है जो विश्वविद्यालय के स्नातक और स्नातकोत्तर पाठ्यक्रमों के अनुकूल हों। विश्वविद्यालय-स्तर के ऐसे उत्कृष्ट मानक-ग्रन्थ, जो उपयोगी होते हुए भी पुस्तक प्रकाशन की व्यावसायिकता की दौड़ में अपना समुचित स्थान नहीं पा सकते हों और ऐसे ग्रन्थ भी, जो अंग्रेजी की प्रतियोगिता के सामने टिक नहीं पाते हों; अकादमी प्रकाशित करती है। इस प्रकार अकादमी ज्ञान-विज्ञान के हर विषय में उन दुर्लभ मानक-ग्रन्थों को प्रकाशित करती रही है और करेगी, जिनको पाकर हिन्दी के पाठक लाभान्वित ही नहीं, गौरवान्वित भी हो सकें। हमें यह कहते हुए हर्ष होता है कि अकादमी ने 375 से भी अधिक ऐसे दुर्लभ और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन किया है जिनमें से एकाधिक केन्द्र, राज्यों के बोर्डों एवं अन्य संस्थाओं द्वारा पुरस्कृत तथा अनेक विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा अनुशंसित किये गये हैं।

राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी को अपने स्थापना-काल से ही भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय से प्रेरणा और सहयोग प्राप्त होता रहा है तथा राजस्थान सरकार ने इसके पल्लवन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, अतः अकादमी अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में उक्त सरकारों की भूमिका के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करती है।

राजस्थानी चित्रकला का प्रथम संस्करण प्रकाशित करते हुए हमें अपार हर्ष हो रहा है। यह पुस्तक मेवाड़, मारवाड़, हाड़ौती और ढूँढाड़ स्कूल की अनेक शैलियों, उपशैलियों और राजस्थानी कला का एक समग्र रूप तथा अध्ययन की दृष्टि से विविध आयाम प्रस्तुत करती है। हालाँकि हिन्दी में राजस्थानी चित्रकला की विभिन्न शैलियों पर अनेक पुस्तकें समय-समय पर प्रकाशित हुई हैं, परन्तु यह पुस्तक निश्चय ही इस क्षेत्र में एक अनूठा प्रयास है। पुस्तक राजस्थान के भौगोलिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य को आधार बनाकर लिखी गई है। विश्व-विद्यालय-स्तर के छात्रों एवं अन्य सम्बद्ध पाठकों के लिए यह पुस्तक उपयोगी सिद्ध होगी; ऐसा हमारा विश्वास है।

हम पुस्तक के लेखक डॉ. जयसिंह नीरज एवं विषय सम्पादक डॉ. चिन्मय मेहता, ललितकला संकाय, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर के प्रति प्रदत्त सहयोग हेतु आभारी हैं।

डॉ॰ वेद प्रकाश
निदेशक
राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी
जयपुर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

निवेदन

भारतीय चित्रकला के परिदृश्य में राजस्थानी चित्रकला का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। लोक-संस्कृति एवं सामंती परिवेश में पनपी यह कला न तो किसी एक स्थान पर विकसित हुई और न ही किसी एक व्यक्ति द्वारा परिपोषित हुई है। वास्तव में तो राजस्थान में जितनी भी रियासतें रही, वहाँ की राजधानियों, प्रमुख नगरों, धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतिष्ठानों में यह कला समय-समय पर पल्लवित हुई है जिसके समग्र स्वरूप के आधार पर इसे राजस्थानी चित्रकला के नाम से अभिहित किया जाता है।

इस वृहद् प्रदेश में, जहाँ दूर-दूर तक मरु के टीले हैं; वहीं अरावली पर्वत-शृंखला की हरी-भरी वादियाँ भी हैं। खान-पान, वेश-भूषा, बोली-भाषा में वैविध्य होने पर भी पूरे प्रदेश में एक जबर्दस्त सांस्कृतिक समन्वय देखने को मिलता है। राजपूत राजाओं की रियासतों के गुणीजनखानों में हिन्दू, मुसलमान तथा अन्य धर्म के कलाकारों ने मिलजुल कर जो कलात्मक अवदान प्रदान किया है, वह कला का उत्कृष्ट उदाहरण है।

16वीं शती से राजस्थानी चित्रकला का जो स्वरूप उभरकर आया है, उसे अध्ययन की दृष्टि से भौगोलिक और सांस्कृतिक धरातल के आधार पर चार स्कूलों में विभाजित कर सही-सही परखा जा सकता है। मेवाड़, मारवाड़, हाड़ौती और ढूँढ़ाड़ स्कूल की अनेक शैलियों, उपशैलियों और ठिकाणा-कला में समाहित राजस्थानी-चित्रकला का जो एक समग्र परिदृश्य बनता है, वह निश्चय ही अध्ययन के विविध आयाम प्रस्तुत करता है।

खेद है कि अभी तक राजस्थानी चित्रकला का समग्र अध्ययन नहीं के बराबर हुआ है। यों तो समय-समय पर अँग्रेजी और हिन्दी में राजस्थानी चित्रकला की विभिन्न शैलियों एवं उपशैलियों पर अनेक पुस्तकें प्रकाशित होती रही हैं, किन्तु मेरी जानकारी में अँग्रेजी की पुस्तक 'स्प्लैण्डर ऑफ राजस्थानी पेण्टिंग' और यह पुस्तक इस क्षेत्र में प्रथम विनम्र प्रयास है।

गत तीस वर्ष से लगातार राजस्थान की चित्रकला के अध्ययन एवं सर्वेक्षण में लगे रहने की ही यह पहल है। यह ऐसा विषय है जिसमें नयी-नयी खोजबीन होती रहती है और पुरानी अवधारणाएँ परिवर्तित होती रहती हैं। इस पुस्तक में मेरा यह कोई दावा नहीं है कि मैंने जो कुछ लिखा है वह सर्वथा मौलिक और अपने-आप में पूर्ण है। वास्तव में तो यह ऐसा विषय है जिसमें पूर्व अध्ययन को आधार बनाकर अपनी बात कही गयी है। कला-मर्मज्ञ एवं शोधार्थी इस ओर अधिक ज्ञान प्रदान करेंगे यही मेरी आकाँक्षा है।

इस ग्रंथ को मैंने दस अध्यायों में विभाजित कर समग्र अध्ययन करने का प्रयत्न किया है। कला के सृजनात्मक संसार की बात के साथ ही राजस्थान के भौगोलिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिदृश्य को आधार बनाकर मेवाड़ स्कूल, मारवाड़ स्कूल, हाड़ौती स्कूल और ढूँढ़ाड़ स्कूल की विभिन्न शैलियों, उपशैलियों तथा ठिकाणों की कला का विवेचन करने का प्रयत्न किया है। बहुत से

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ठिकाणों की अधूरी जानकारी होने के कारण उन पर सामग्री नहीं दी गयी है । यह तो एक अनवरत अध्ययन है जिसको शोधार्थी एवं कला-मर्मज्ञ निश्चय ही आगे बढ़ायेंगे ।

इस ग्रंथ की तैयारी में बहुत से विद्वानों और मित्रों का सहयोग रहा है, उनके प्रति मैं किन शब्दों में आभार प्रकट करूँ ? अंग्रेजी की पुस्तक 'स्प्लैण्डर ऑफ राजस्थानी पेंटिंग' के लोकार्पण के अवसर पर महामहिम राष्ट्रपति श्री शंकरदयाल जी शर्मा ने मुझे हिन्दी में भी पुस्तक तैयार करने का बहुमूल्य सुझाव दिया । यह उस आदेश की ही अनुपालना है । कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर, राजकीय संग्रहालय, उदयपुर, जयपुर, अलवर, राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली, प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम, बंबई, भारत कला भवन, बनारस, पिक्चर एण्ड आर्ट गैलरी, बड़ौदा, महाराजा बूंदी, श्री रघुवीर सिंह मेड़तिया एवं श्री बृजमोहन सिंह परमार के प्रति मैं आभारी हूँ, जिनके चित्रों का मैंने इस पुस्तक में उपयोग किया ।

भाई डॉ. प्रेमचन्द्र गोस्वामी ने इस पुस्तक के कला-पक्ष को सँवारा तथा श्री पूरण सरमा और श्रीमती बेला माथुर ने पाण्डुलिपि तैयार करने में पूर्ण सहयोग दिया । डॉ. सुमहेन्द्र, डॉ. चिन्मय मेहता एवं डॉ. राघव प्रकाश ने समय-समय पर सुझाव देकर मुझे प्रोत्साहित किया, एतदर्थ इन सभी के प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ । अन्त में राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी और विशेषतः डॉ. वेद प्रकाश का मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने इस ग्रंथ को सुचारु रूप से प्रकाशित किया ।

– जयसिंह नीरज

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बड़े भाई श्री गोपाल कृष्ण कौल
डॉ. विश्वम्भर नाथ उपाध्याय
छोटे भाई श्री भागीरथ भार्गव
को सम्मान सहित समर्पित

– जयसिंह नीरज

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विषय-सूची

1. कला का सृजनात्मक संसार 1
2. भौगोलिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठ-भूमि 9
3. राजस्थानी चित्रकला : उद्भव और विकास 19
4. मेवाड़ स्कूल : उदयपुर-शैली, नाथद्वारा-शैली, देवगढ़-उपशैली, शाहपुरा-उपशैली तथा अन्य ठिकाणा कला 25
5. मारवाड़ स्कूल : जोधपुर-शैली, बीकानेर-शैली, किशनगढ़-शैली, अजमेर-शैली, नागौर-शैली, सिरोही-शैली, जैसलमेर-शैली तथा अन्य ठिकाणा कला 37
6. हाड़ौती स्कूल : बूँदी-शैली, कोटा-शैली तथा झालावाड़-शैली 61
7. ढूँढ़ाड़ स्कूल : आमेर-शैली, जयपुर-शैली, शेखावाटी-शैली, अलवर-शैली, उणियारा-शैली, करौली-शैली तथा अन्य ठिकाणा कला 75
8. राजस्थानी चित्रकला का सौन्दर्य-बोध 97
9. उपसंहार : राजस्थानी चित्रकला का संविधान 115
10. संदर्भ-ग्रंथ 118
11. नामानुक्रमणिका 121

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्रानुक्रमणिका

चित्र सं
रंगीन

1 : वासक-सज्जा-नायिक (रसिकप्रिया-केशव) : उदयपुर शैली, लगभग सन् 1640
[राजकीय संग्रहालय, उदयपुर]

2 : भैरवी रागिनी : उदयपुर शैली, सन् 1660
[कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर]

3 : सुखदेवजी भागवत बाँचते हुए : देवगढ़ शैली, सन् 1800
[कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर]

4 : गोवर्धन-धारण : नाथद्वारा शैली, 18वीं शती अन्तिम
[आर्ट गैलेरी ऑफ दि इन्टरनेशनल सोफिया]

5 : राग मेघ : पाली शैली, सन् 1623, चित्रकार बीरजी
[कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर]

6 : हिंडौले में राधा-कृष्ण : वेलि कृष्ण-रुक्मिणी सचित्र ग्रन्थ से, वि. सं. 1876 (1819) चित्रकार विट्ठलदास
[प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर]

7 : जनानी महफिल : किशनगढ़ शैली, सन् 1775
[राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली]

8 : सूअर का शिकार करते राजसिंह जूनियाँ : सावर शैली, सन् 1690
[कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर]

9 : वंशी-वादन : जैसलमेर शैली, 19वीं शती प्रारम्भ
[जैसलमेर किले के राजमहल के भित्ति-चित्रों से]

10 : रागिनी देसाख : सिरोही शैली, सन् 1675
[कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर]

11 : गुलदस्ता लिये नायिका : बीकानेर शैली, सन् 1690
[कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर]

12 : ठा. इन्दरसिंह नागौर : नागौर शैली, सन् 1720
[कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर]

13 : पक्षियों से प्यार : बूँदी शैली, 18वीं शती मध्य
[महाराजा बूँदी के निजी संग्रह से]

14 : हाथियों की लड़ाई : बूँदी शैली, 18वीं शती मध्य
[चित्रशाला, बूँदी का भित्ति-चित्र]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

15 : महाराजा रामसिंह द्वितीय की शाही सवारी का जुलूस : कोटा शैली, 19वीं शती
[कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर]

16 : राम-दरबार : झालावाड़ शैली, 19वीं शती
[राजमहल, झालावाड़ (जिलाधीश कार्यालय) का भित्ति-चित्र]

17 : बादशाह-बेगम : आमेर शैली, सन् 1650
[कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर]

18 : वात्सल्य : जयपुर शैली, सन् 1750, चितारा-रामजीदास
[कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर]

19 : राजा बिशनसिंह उणियारा : उणियारा शैली, सन् 1800
[कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर]

20 : भित्ति-चित्रण-परम्परा : जयपुर शैली, 18वीं शती उत्तरार्द्ध
[गलता के प्रमुख द्वार के ऊपरी भाग का भित्ति-चित्र]

21 : शिव-परिवार : शेखावाटी शैली, 19वीं शती उत्तरार्द्ध
[गोयनका हवेली, फतहपुर का भित्ति-चित्र]

22 : राग हिंडौल : अलवर शैली, सन् 1840
[राजकीय संग्रहालय, अलवर]

23 : रावराजा विनयसिंह को गुलिस्ताँ भेंट करते हुए : अलवर शैली-लगभग 1850
(प्रसिद्ध सचित्र ग्रन्थ गुलिस्ताँ का एक सचित्र पन्ना)
[राजकीय संग्रहालय, अलवर]

24 : करौली के राजा : करौली शैली, 19वीं शती
[कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर]

(श्वेत-श्याम)

1 : अथ नीरस लक्षण : रसिकप्रिया, प्रारम्भिक राजस्थानी
[प्रिन्स ऑफ वेल्स म्यूजियम, बम्बई के सौजन्य से]

2 : ढोला-मारू री चौपाई : मेवाड़ स्कूल, लगभग 1592
[राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली के सौजन्य से]

3 : नामकरण संस्कार : मेवाड़ स्कूल, जहाँगीरकालीन
[राजकीय संग्रहालय, कोटा]

4 : कृष्ण का मथुरा गमन : मेवाड़ स्कूल, 17वीं शती मध्य
[राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली के सौजन्य से]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

5 : गोवर्धन-पूजा : मारवाड़ स्कूल, 18वीं शती अन्तिम
[पिक्चर एण्ड आर्ट गैलेरी, बड़ौदा के सौजन्य से]

6 : दर्शन भेद : रसराज, जोधपुर शैली, 19वीं शती प्रारंभ
[राजकीय संग्रहालय, जयपुर के सौजन्य से]

7 : जुलूस : नागौर शैली, 18वीं शती मध्य
[नागौर किले का भित्ति चित्र]

8.1 : कृष्ण और बलराम : होली खेलते हुए : बूँदी शैली, 18वीं शती,
[निजी संग्रह से]

8.2 : प्रेमालाप : बूँदी शैली, 18वीं शती मध्य
[कुमार संग्रामसिंह, जयपुर के सौजन्य से]

9.1 : अवतार-लीला : बूँदी शैली, 18वीं शती मध्य
[भारत कला भवन, बनारस के सौजन्य से]

9.2 : राजमहल करौली : भित्यांकन, 18वीं शती अंन्तिम

10.1 : नर्तकी : अलवर शैली, सन् 1832
[दीवानजी की हवेली के एक भित्ति-चित्र से]

10.2 : गोपालसिंह की छतरी : करौली, 19वीं शती अन्तिम

11.1 : राम-दरबार, उणियारा शैली, 18वीं शती
[उणियारा महल से]

11.2 : राजगढ़ का शीशमहल : अलवर शैली, 1775 लगभग
[राजगढ़ के भित्ति-चित्र से]

12 : राव अजीतसिंह, उणियारा शैली, 18वीं शती मध्य
[उणियारा महल से]

13.1 : युगल छवि : जयपुर शैली, लगभग 1775
[कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर के सौजन्य से]

13.2 : भित्ति चित्रण : मौजमाबाद, सन् 1610 के लगभग
[मानसिंह के महल से]

14 : होली : बूँदीशैली, 19वीं शती का भित्ति-चित्र

15 : नायिका-श्रृंगार : कोटा शैली भित्ति-चित्र, 19वीं शती प्रारम्भ
[बड़ा महल, कोटा से]

16 : चँवर-धारिणी : कोटा शैली, 19वीं शती
[अर्जुन महल, कोटा से]

□

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

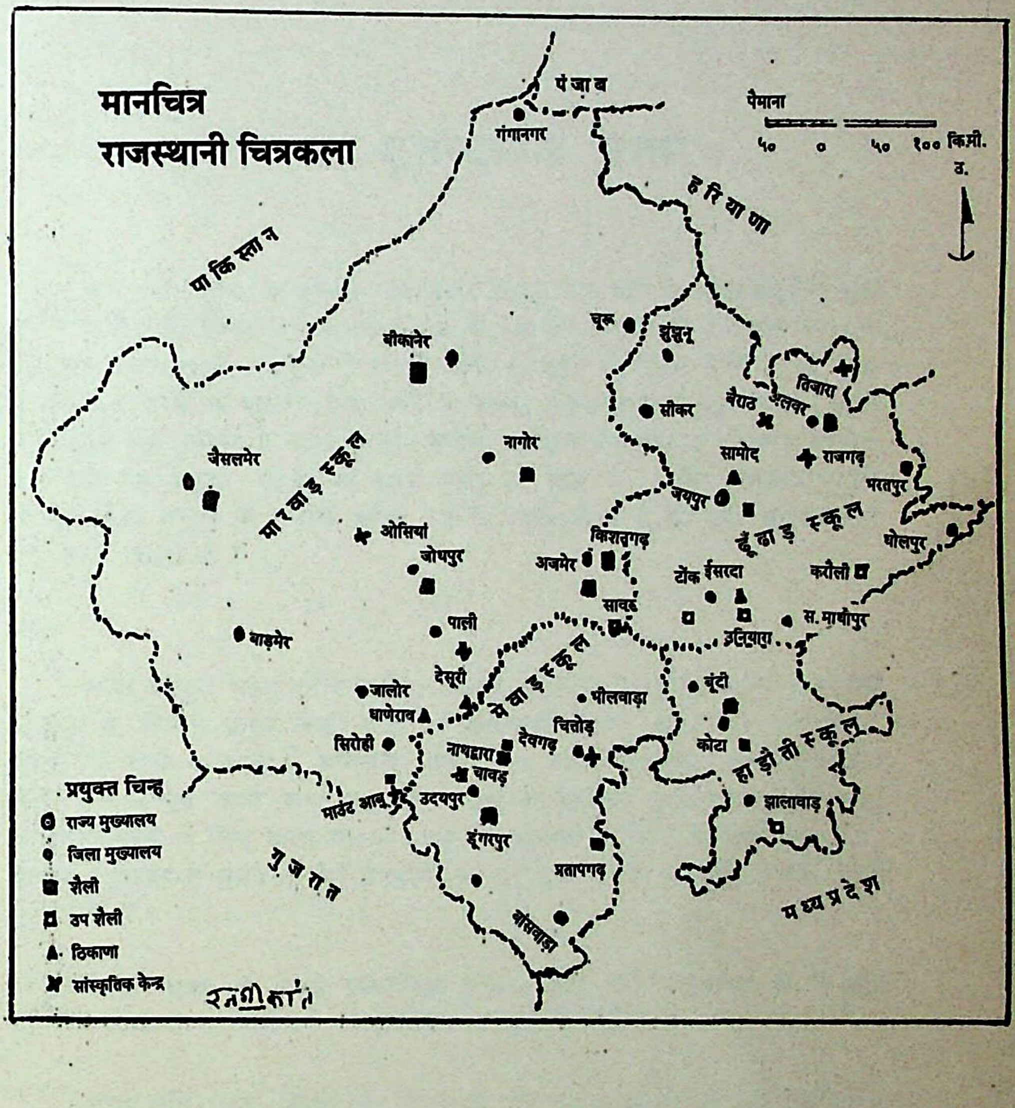

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

1

कला का सृजनात्मक संसार

कला से मनुष्य का संबंध कब हुआ होगा, इस बारे में निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है; किन्तु यह मानव-चेतना के अनुपम वरदान के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है। मनुष्य ने अपनी वाणी या कृति से अपने साथियों को मुग्ध या विस्मित करने का प्रयत्न कियां तभी से उसका संबंध कला से जुड़ गया। कला के विकास की भूमिका में अभ्यास और प्रयोग का एक दीर्घकालीन इतिहास निहित है। दृश्य या अदृश्य, स्थूल या सूक्ष्म, वस्तु या भाव से संबंधित्त सौन्दर्यानुभूति साकार होकर मनुष्य के सामने व्यक्त रूप में प्रकट होती है तो उस अभिव्यंजना को 'कला' कहते हैं।

कला

कला संस्कृत भाषा का शब्द है। संस्कृत साहित्य में इसका प्रयोग अनेकार्थों में हुआ है, जिसमें प्रमुख किसी वस्तु का 'सोहलवाँ भाग', 'समय का एक भाग', किसी भी कार्य के करने में अपेक्षित चातुर्य-कर्म आदि विशेषतः उल्लेखनीय हैं। भरत मुनि से पूर्व 'कला' शब्द का प्रयोग काव्य को छोड़कर दूसरे प्रायः सभी प्रकार के चातुर्य-कर्म के लिए होता था और इस चातुर्य-कर्म के लिए विशिष्ट शब्द था– 'शिल्प'। जीवन से संबंधित कोई उपयोगी व्यापार ऐसा न था, जिसकी गणना शिल्प में न हो।[1]

'कला' शब्द का सबसे प्रामाणिक प्रयोग भरत के नाट्यशास्त्र में मिलता है : न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न साविद्या न साकला।[2]

भरत मुनि ज्ञाग, शिल्प और विद्या से भी अलग 'कला' का क्या अभिप्राय ग्रहण करते थे, यह कहना कठिन है ? अनुमान यही लगता है कि भरत द्वारा प्रयुक्त 'कला' शब्द यहाँ 'ललित कला' के निकट है और 'शिल्प' शायद उपयोगी कला के।[3] हमारे यहाँ कला उन सारी जानकारियों या क्रियाओं को कहते हैं, जिनमें थोड़ी-सी भी चतुराई की आवश्यकता होती है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कला के संबंध में पाश्चात्य दृष्टिकोण भी कुछ इसी प्रकार का है । 'आर्ट' का संबंध पुरानी फ्रैन्च 'आर्ट' और लैटिन 'आर्टेम' या 'आर्स' से जोड़ा जाता है, जिसका अर्थ बनाना, पैदा करना या फिट करना होता है । यह शारीरिक या मानसिक कौशल 'आर्ट' माना गया है ।[4] अंग्रेजी में कला शब्द का प्रयोग 13वीं शती से होने लगा था, जिसका शुद्ध अर्थ कौशल मात्र था । 17वीं शती में कला का प्रयोग वहाँ काव्य, संगीत, चित्र, वास्तु आदि ललित कलाओं के लिए भी होने लगा ।

इस प्रकार कला के निरुपण में पौरवात्य और पाश्चात्य दोनों ही विद्वानों के मत एक-से जान पड़ते हैं । देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार कला शब्द अनेकार्थों में प्रयुक्त होने के उपरान्त भी चातुर्य-कर्म और कौशलपूर्ण अभिव्यक्ति के अभिप्राय से वंचित नहीं हुआ ।

कला की परिभाषा

समय-समय पर विद्वानों एवं कला-मर्मज्ञों ने कला को जिस प्रकार परिभाषित किया है, उससे प्रायः ललितकला ही ध्वनित होती है । महान् दार्शनिक प्लेटो के अनुसार, प्रत्येक व्यक्ति सुन्दर वस्तु को अपना प्रेमास्पद चुनता है, अतः कला का प्राण सौन्दर्य है । उन्होंने कला को 'सत्य' की अनुकृति की अनुकृति माना है ।[5] अरस्तू उसे अनुकरण कहते हैं ।[6] हीगेल ने कला को आदिभौतिक सत्ता को व्यक्त करने का माध्यम माना है । क्रौचे की दृष्टि से कला बाह्य प्रभाव की आन्तरिक अभिव्यक्ति है ।[7] टॉल्सटॉय की दृष्टि में क्रिया, रेखा, रंग, ध्वनि, शब्द आदि के द्वारा भावों की वह अभिव्यक्ति जो श्रोता, दर्शक और पाठक के मन में भी वही भाव जागृत कर दे, 'कला' है ।[8] फ्रायड ने कला को मानव की दमित वासनाओं का उभार माना है । हरबर्ट रीड अभिव्यक्ति के आह्लादक या रंजक स्वरूप को कला मानते हैं ।[9]

टैगोर के अनुसार, मनुष्य कला के माध्यम से अपने गंभीरतम अन्तर की अभिव्यक्ति करता है । प्रसादजी के अनुसार, 'ईश्वर की कर्तृत्व-शक्ति का मानव द्वारा शारीरिक तथा मानसिक कौशलपूर्ण निर्माण कला है ।[10]

इन सब परिभाषाओं से निष्कर्ष निकलता है कि कला शिवत्व की उपलब्धि के लिए सत्य की सुन्दर अभिव्यंक्ति है । कला का सामान्य अर्थ ही सौन्दर्य की रचना है, रूप की रचना है । कला में जिस सौन्दर्य या रूप की रचना होती है, वही आनन्द का स्रोत है । आनन्द सौन्दर्य का सहज फल और उसकी अंतिम परिणति है । "इस प्रकार कला सौन्दर्य की रचना है । सौन्दर्य रूप का अतिशय है । रूप अभिव्यक्ति का माध्यम है और अभिव्यक्ति सम्पूर्ण सत्ता का आत्म-निवेदन है ।"[11] इस तरह किसी भी कला में रूप और रचना दोनों एक साथ कार्य करते हैं तो कलात्मक अभिव्यक्ति उजागर हो पाती है ।

वर्गीकरण

यों तो कला को अविभाज्य माना है, पर रूप रचना के सम्पर्क में आकर अनेक छवियाँ धारण करता है और इसीलिए माध्यम की भिन्नता के कारण कला 'अनेकानेक वर्गों में विभाजित लगती है । कला के वर्गीकरण के संबंध में पर्व

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

और पश्चिम के विद्वानों ने विस्तार से विवेचन किया है। भारतीय विचारकों ने काव्य को कला से पृथक् 'विद्या' तथा कला को 'उपविद्या' माना है। संख्या की दृष्टि से 'ललितविस्तर' में 86, कामसूत्र में 64, प्रबन्धकोश तथा अन्य जैन-ग्रन्थों में 72 कलाओं का विवरण है।[12] हमारे यहाँ कला के अन्तर्गत सामान्यतः उपयोगी और ललित दोनों प्रकार की कलाएँ परिगणित रही हैं। विवाद तो वहाँ रहा है, जहाँ काव्य 'विद्या' और संगीत, चित्र, स्थापत्य कलाएँ 'उपविद्या' मानी गयी हैं। आचार्य शुक्ल तथा प्रसाद तक ने काव्य को कला मानने से इन्कार किया है।

कला के वर्गीकरण के संबंध में पाश्चात्य विचारकों के भी दो संप्रदाय हैं। क्रोचे कला को अविभाज्य मानते हैं, क्योंकि कला एक अखण्ड अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति आन्तरिक हैं, इसलिए बाहर दिखाई पड़ने वाली कलाएँ (वास्तु, मूर्ति, चित्र, संगीत, काव्य) वास्तविक कला की प्रतिकृति मात्र हैं।[13] कला के वर्गीकरण से संबंधित विचारकों में प्रमुखतया अरस्तू, काँट, हीगेल, स्पैन्सर, ब्राउन, लैस्सिंग आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ग्रीक में पाँचवीं शती ईसा पूर्व से ललितकलाओं और उपयोगी कलाओं का भेद स्वीकार किया जाने लगा था।[14] प्लेटो व अरस्तू ने इस भेद को पुनः प्रस्तुति (रिप्रेजेन्टेशन) के आधार पर स्वीकारा। उपयोगी कलाओं में लुहार, कुम्हार, बढ़ई आदि का ध्यान वस्तु की पुनः प्रस्तुति पर न रहकर उपयोगिता पर अधिक रहता है, जबकि ललितकलाओं में भाव या रूप को शब्द, रंग, रेखा के माध्यम से पुनः प्रस्तुत कर सुन्दर बनाया जा सकता है।

आगे चलकर कला की चर्चा ललितकलाओं के संदर्भ में ही विशेषतः होने लगीं। प्रचार तथा व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से हीगेल का वर्गीकरण अधिक प्रसिद्ध और मान्य हुआ। उसने विकास-क्रम के आधार पर कला को तीन वर्गों में रखा है[15] (1) प्रतीकवादी (वास्तु) (2) शास्त्रीय (मूर्ति) तथा (3) रोमानी (काव्य, संगीत, चित्र)। हीगेल ने समस्त ललित-कलाओं को विचार (आइडिया) की अभिव्यक्ति का माध्यम माना है। उनके विचार से भाव या विचार को रूप में बदल देना ही कला का लक्ष्य है।

कलाओं के माध्यम

भाव या विचार को रूप में बदलने के लिए माध्यम की आवश्यकता होती है। यह माध्यम ही अविभाज्य कला को अनेकार्थ तथा अनेक रूप देता है। ईंट-पत्थर, छैनी, हथौड़ी, शब्द, स्वर, रेखा-रंग आदि ऐसे माध्यम हैं जो रूप की रचना में सहयोगी होते हैं। वास्तु और मूर्ति कला के माध्यम अधिक स्थूल और कठोर हैं, पर कलाकारों ने पुनर्प्रस्तुति के आधार पर इन कलाओं में जो लावण्य भर दिया है, वह देखते ही बनता है। वास्तुशिल्प एक स्थानिक (Space) और अचल कला है जो त्रि-आयामी होती है। मूर्ति-कला का मनुष्य के नयन से संबंध होता है। दृश्यमान जगत की अभिव्यक्ति के लिए मूर्तिकार घनत्व और आयतन को अपना आधार बनाता है। कभी-कभी तो यह सच लगता है कि तक्षण का प्रतिभा-कौशल किसी छवि के निर्माण में प्रयुक्त न होकर उस निरर्थक और अवाँछित पदार्थ को निकाल देने में है, जिसने उसकी चेतना में अंकित छवि को छिपा रखा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

रोमानी कलाओं के माध्यम क्रमशः शब्द, स्वर, रेखा, रंग आदि कोमल होने के कारण, अभिव्यक्ति का विशेष सामर्थ्य रखते हैं। अमूर्त से अमूर्त भाव काव्य, संगीत और चित्रकला में अभिव्यक्ति पाता है। इस दृष्टि से माध्यम जितना ही अमूर्त या सूक्ष्म होगा, कला उतनी ही उत्कृष्ट होगी, किन्तु यह भी स्पष्ट है कि वास्तु और मूर्तिकला में माध्यम की स्थूलता के कारण रूप का विन्यास अधिक स्थिर और ऐन्द्रियक होता है तथा रोमानी कलाओं में साँकेतिक और अमूर्तता के कारण अस्पष्टता और अस्थिरता का समावेश भी स्वाभाविक है।

काव्य या साहित्य में शब्द के माध्यम से सौन्दर्य की रचना होती है। भाव और अर्थ से पूर्ण शब्द साहित्य का निर्माता होता है। अस्तु, साहित्य सार्थक शब्द के माध्यम की कला है। शब्द की कला आत्मा के सबसे नजदीक होती है और व्यंजनों के वनिस्पत स्वर तो आत्मा से मिले ही होते हैं। आकाश का गुण होने के कारण शब्द बहुत सूक्ष्म और रहस्यमय है। आकाश की भाँति ही वह व्यापक और विस्तारशील भी है।[16] शब्द में स्थान, दिक्, काल सबके परे सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाव को अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य होता है। शब्द विचार या भाव का रूप खड़ा करता है। यह रूपात्मक सृजन ही काव्य कहलाता है, इसलिए काव्य की अभिर्व्यक्ति में नाद-तत्त्व और चित्र-तत्त्व काम करते हैं। शब्द में चित्र निर्माण की शक्ति होती है। इस शक्ति के कारण उच्चरित शब्द श्रोता के मन में मानस चित्र उभारता है।

काव्य के पठन या श्रवण से शब्द रंगों में डुबकी लगाकर समूर्तता धारण कर मन में गुंजार उत्पन्न करते हैं। यह गुंजार जितनी ही सजीव, सतरंगी और चित्रोपम होगी, काव्य भी उतना ही प्रभावी होगा। कवि निराकार एवं गहनतम अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए चित्र-भाषा का प्रयोग करता है। रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि की ऐन्द्रियकता काव्य को अत्यधिक उदात्त बना देती है। उपमान, प्रतीक, बिंब आदि कवि के हथियार हैं, जिनसे वह कविता को अधिक संवेदनशील बनाकर पाठक या श्रोता के अन्तर्मन की तहों तक बैठ कर अंधेरे को बुहारने के साथ ही उसे आनन्द-लोक में पहुँचा देता है।

साहित्य की भाँति संगीत भी शब्द की कला है। ये दोनों कलाएँ शब्द के एक ही हिमालय से उदित होकर गंगा और यमुना की भाँति भिन्न भूमियों पर प्रवाहित होती हैं। इस शब्द का स्रोत मनुष्य के मुख अर्थात् उसकी वाणी में है। मानवीय संगीत का स्रोत वाणी में है, इसलिए संगीत और विद्या की देवी को वीणावादिनी सरस्वती का प्रसिद्ध रूप मिला है। संगीत का माध्यम सप्तस्वर हैं। सप्त स्वरों के आरोह-अवरोह से जो अलौकिक अभिव्यक्ति मानव-मन को मोहित कर लेती है वह रोमानी कला संगीत कहलाती है। संगीत अल्प शब्द-योजना में विपुल स्वर विधान का सौन्दर्य है। काव्य और संगीत दोनों ही कलाएँ शब्द और स्वरों की लयात्मक ऐसी अभिव्यक्ति हैं जो मानव-मन के अन्तरंग की तह छूने में समर्थ होती हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्रकला

यों तो रोमानी कलाओं में चित्रकला का स्थान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, किन्तु वास्तु और मूर्तिकला की भाँति चित्रकला का मानव नयन से सरोकार होने के कारण यह कला रूपप्रद कला (Plastic Art) के अधिक समीप है । मूर्ति और चित्रकला का माध्यम अलग होते हुए भी इनके मूलाधारों और सिद्धान्तों में अत्यधिक सामीप्य है । यही कारण है कि भारतीय शिल्प-शास्त्रों में चित्र, मूर्ति और स्थापत्य के लिए शिल्प का प्रयोग हुआ है ।

चित्र एक रूपाकारों का संयोजन ही नहीं है वरन् कलाकार अपनी सृजनशीलता का परिचय देकर उसे महिमा-मंडित कर देता है । चित्रकला एक स्थानिक और अचल कला है । यहाँ गति, दिक्, संस्कृति सब वास्तविक (Virtual) हैं और दर्शक को स्वयमेव चित्र के इर्द-गिर्द गतिशील रहकर उसकी अनेक भंगिमाओं को ग्रहण करना पड़ता है । यह एक फ्रोजन दृश्य है ।

'चीयते इति चित्रम्' अर्थात् चित्रकार बहिर्जगत और अन्तर्जगत के भावों का चयन कर रंग और रेखाओं के माध्यम से उन्हें अभिव्यक्त करता है । शिल्प के षड़ंग इस चयन की प्रवृत्ति को चित्रकला का रूप देने में सहायक होते हैं । भारतीय शिल्पशास्त्रों में 6 निर्दिष्ट तत्त्वों का विवेचन हुआ है ।[17] रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्य-योजना, सादृश्य और वर्णिका भंग ।[18] इनके संयोजन से जो चित्रकर्म होता है, वह रूपाकार होते हुए भी भावना जगत की गहराइयों में उतर कर अलौकिक संसार में पहुँचा देता है । पाश्चात्य विद्वानों में हरबर्ट रीड ने चित्रकला के निम्नांकित पाँच तत्त्वों का विवेचन किया है[19] -

1. रेखा प्रवाह (Rhythm of line)
2. रूप योजना (Massing of Forms)
3. स्थान (Space)
4. छाया प्रकाश (Light and Shade)
5. वर्ण (Colour)

इस प्रकार पौरवात्य एवं पाश्चात्य चित्रकला के तत्त्व एक ही भावभूमि पर खरे उतरते हैं । वास्तव में तो चित्र के मुख्य गुण 'भाव' (Emotion), अभिव्यंजना (Expression) तथा लय (Rhythm) माने गये हैं । गति (Movement) लय से अभिन्न होने के कारण उसी के अन्तर्गत आ जाती है । अतः षड़ंग के चयन में माधुर्य, ओज़, सजीवता आदि गुण हों, वह शोभन चित्र कहा जा सकता है । चित्र की शोभा के कारण ही प्राचीन भारत में चित्रकला को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था ।[20]

चित्रकला का माध्यम रेखा और रंग है । किसी आधारभूत सतह पर रेखा और रंगों के द्वारा चित्रकार भावाभिव्यक्ति करता है । इसमें स्थापत्य और मूर्ति की भाँति स्थान का उपयोग आवश्यक है, पर माध्यम अधिक कोमल होने के कारण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अभिव्यक्ति अधिक सशक्त हो जाती है। किसी एक तल पर जो सम हो या खमदार पानी, तेल अथवा अन्य माध्यम में घोले अथवा सूखे एक या अधिकाधिक रंग की रेखा एवं 'रंगामेजी' द्वारा किसी रमणीय आकृति के अंकन को और उसी प्रसंग में निम्नोन्नत तथा एकाधिक तल और पहलू दर्शाने को चित्रण कहते हैं और ऐसी प्रस्तुत वस्तु को चित्र। उक्त आधारभूत सतह मुख्यतः भित्ति, पत्थर, काठ, पकाई मिट्टी के पात्र या फलक, हाथीदाँत, चमड़ा, कपड़ा, ताड़पत्र वा कागज होती है।[21]

चित्रकार की विशेषता यह है कि वह समतल धरातल पर ऊँचाइयाँ, गहराइयाँ, दूरी और नैकट्य आदि दिखलाता है, इस प्रकार चित्र द्वि-आयामी होते हुए भी त्रि-आयामी होने का आभास देता है। चित्र में कलाकार मानस-चित्रों को रेखा और रंगों के माध्यम से अपनी सामर्थ्यानुसार चाक्षुष चित्रों में प्रस्तुत करता है। आँख अन्य ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा अधिक सजग एवं शक्ति-सम्पन्न इन्द्रिय है तथा विस्तार और सूक्ष्मता दोनों को ग्रहण करने में वह छठी ज्ञानेन्द्रिय मन के अत्यन्त सन्निकट रहती है। अन्य रूपप्रद (प्लास्टिक कला) कलाओं की भाँति चित्रकला भी चाक्षुष होने के कारण आँखों द्वारा मानसिक तृप्ति प्रदान करती है, साथ ही चित्र में माध्यम की कोमलता के कारण मूर्तता कम और मानसिकता अधिक रहती है।

मनुष्य की चेतना का स्पर्श बाह्य वस्तु-जगत अथवा आन्तरिक भाव-जगत दोनों में से किसी से भी होने पर जो स्मृति-चिह्न शेष रह जाते हैं, वे अपने साथ किसी न किसी रूप का आभास छिपाए रहते हैं। ऐसे ही रूपाभास विशेष की अन्तर-अभिव्यक्ति स्वतः चित्रत्व में परिणत होती रहती है और किसी भी माध्यम से उसकी बाह्य अभिव्यक्ति को उसका चित्रण कहा जा सकता है। रंग और रेखा के विशिष्ट माध्यम से व्यक्त रूपाभास को चित्र की परिभाषा दी जा सकती है।[22] इस प्रकार चित्रकला का यह संसार सतरंगा ही नहीं वरन् अनोखा भी है।

कलाओं का अन्तर-अनुशासन

कलाओं के पारस्परिक संबंधों की जब खोजबीन करते हैं तो पता चलता है कि उपर्युक्त कलाएँ अन्योन्याश्रित हैं। कला एक 'अखण्ड अभिव्यक्ति' है। कलाकार के मन में जो मानस चित्र उभरते हैं, वे माध्यम के कारण अलग-अलग रूप धारण करते हैं। कवि शब्द-चित्र प्रस्तुत कर भावाभिव्यक्ति करता है तो चित्रकार रंग और रेखाओं के माध्यम से उस रूपाकार को दृश्यवान बना देता है। मूर्तिकार छेनी और हथौड़ी से उस मानस-चित्र को रूपाकार में बदल देता है और संगीतकार स्वरों के आरोह-अवरोह से मनःस्थिति को अभिव्यक्त करता है।

किसी भी कला की सृजन-प्रक्रिया में एक-दूसरी कलाएँ अपनी सीमा में पूर्ण सहयोग देती हैं। इस दृष्टि से चित्रकर्म तो सर्वोपरि रहता है। चित्रण की भावना और दृश्य तत्त्व अर्थात् 'बिम्ब' की कल्पना व्यापक सत्य है, क्योंकि अभिव्यक्ति के प्रत्येक आग्रह में सूक्ष्म रूप से चित्रण की भावना अथवा वस्तु को रूपायित करने की इच्छा निहित रहती है। अनुभूति के हर स्तर में चित्र-तत्त्व की कल्पना या बिम्ब-विधान समाविष्ट रहता है, क्योंकि प्रतिभा सर्वप्रथम बिम्ब के माध्यम से बोलती है। यही मानस-चित्र शब्द-चित्र, मूर्ति-चित्र और संगीत में रूपाकार ग्रहण करते हैं। काव्य और संगीत श्रव्य कलाएँ हैं तो चित्र और मूर्ति दृश्य कलाएँ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रथम दो का श्रवणेन्द्रिय अर्थात् कान से अधिक सम्पर्क है तो दूसरी का नेत्रेन्द्रिय अर्थात् आँख से, किन्तु जब कलाएँ एक-दूसरी का सहयोग लेकर प्रस्फुटित होती हैं, तो ये सब भेद विलीन होते से प्रतीत होते हैं। ऐसी अलौकिक स्थिति में दृश्य कलाओं को देखकर मन में संगीत बजने लगता है और श्रव्य-कलाओं को सुनकर सतरंगे दृश्य रूपायित होने लगते हैं।

उपर्युक्त कलाओं में अभिव्यक्ति का अन्तर है अन्यथा कला की आत्मा तो एक है। "काव्य बोलता हुआ चित्र है तो चित्र मूक काव्य।"[23] प्रत्येक कविता अपने-आप में एक-चित्र है। चित्र में आकृति, रस और विचारों का निवास है, इसलिए चित्र एक मूक कविता है। चित्र मूर्ति देखने के लिए है और कविता संगीत सुनने के लिए। प्रकृत कवि चित्रमय भाषा का प्रयोग करता है। भाषा और छन्द, जो संगीत में भी सहयोगी होते हैं; के विधायक तत्त्व अक्षर या शब्द स्वयं भावमय चित्र हैं। चित्रलिपि इस कथ्य की साक्षी है। कविता वह वर्णमय चित्र है जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है, इसलिए कविता, चित्रकला, संगीत एक-दूसरे के प्रेरक और सहायक ही नहीं वरन् पूरक भी हैं।

भारतीय कलाओं की सर्वाधिक विशेषता उनकी समन्वयात्मक प्रवृत्ति रही है। यह कारण है कि प्राचीन समय से ही काव्य को आधार बनाकर चित्र रचना होती रही है, संगीत की लहरियाँ प्रस्फुटित होती रही हैं और संगीत में काव्य अधिक प्रभावी होकर प्रस्फुटित होता रहा है। संगीत को मूर्तता प्रदान करने के लिए राग-रागिनियों का चित्रण होता रहा है। मूर्ति कला को तो 'फ्रोजन पॉइट्री' की संज्ञा ठीक ही दी गयी है। नृत्य संगीत भारतीय मंदिरों और मूर्ति-कला से अत्यधिक घुलामिला है। इन कलाओं के पारस्परिक सम्बन्धों पर विस्तार से अध्ययन होने की गुंजाइश है, क्योंकि कलाओं के पारस्परिक ज्ञान के बिना किसी भी कला का अध्ययन अधूरा और बेमानी है।

जैन, अपभ्रंश, राजपूत, मुगल और पहाड़ी चित्रकारों के प्रेरणा-स्रोत धर्म और साहित्य के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रहे हैं। संस्कृत के विभिन्न ग्रन्थ तथा भक्तिकालीन और रीतिकालीन साहित्यिक ग्रंथों का चित्रण तो बहुलता से हुआ है। इस दृष्टि से कुमारस्वामी का कथन महत्त्वपूर्ण है कि "राजपूत चित्रकला तो भारतीय साहित्य की ही प्रतीक है। भारतवर्ष में साहित्य ने कला का रूप समृद्ध किया है और कला ने साहित्य की व्याख्या की है।"[24] सूर और मीरा जैसे भक्त-कवियों के पद, जो संगीत की रसधार बहाते हैं, वह काव्य और संगीत की चित्रोपम निधि है। भारतीय कला एक प्रकार से साहित्य की ही मार्मिक व्याख्या है। चित्रकला और संगीत के मार्मिक ज्ञान के बिना साहित्यक अध्ययन अधूरा और साहित्य की सूक्ष्म जानकारी के बिना कला की समीक्षा संकुचित रह जाती है।[25]

इस प्रकार कलाओं का सृजनात्मक संसार एक-दूसरी कलाओं से अभिन्न रूप से जुड़ा होने पर भी अपना-अपना स्वतंत्र स्थान बनाये हुए है। भारतीय दृष्टि में कवि, चित्रकार, संगीतकार, मूर्तिकार की पारस्परिक दृष्टि सौहार्द्रपूर्ण रही है। कवि ने चित्रों से सीखा है और मध्यकालीन चित्रकारों का तो अधिकतर आधार ही काव्य रहा है। संक्षेप में कला संसार अत्यधिक विस्तृत और आश्चर्यजनक है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सन्दर्भ

1. देखिए, वासुदेवशरण अग्रवाल : कला और संस्कृति, पृ. 227–235
2. देखिए, बटुकनाथ शर्मा : नाट्यशास्त्र (1–113)
3. भोलानाथ तिवारी : कला, सम्मेलन पत्रिका, कला–अंक, पृ. 19
4. एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका, भाग–2, पृ. 484
5. स्कॉट जेम्स : दि मेकिंग ऑफ लिटरेचर, पृ. 37–46
6. अनुवादक– डॉ. नगेन्द्र : अरस्तू का काव्यशास्त्र, पृ. 6
7. क्रोचे : एस्थैटिक, पृ. 13
8. टॉलस्टॉय : व्हाट इज आर्ट, पृ. 123
9. हरवर्ट रीड : दि मीनिंग ऑफ ऑर्ट, पृ. 16
10. प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबंध, पृ. 15
11. डॉ. रामानन्द तिवारी : साहित्य कला, पृ. 48
12. सम्मेलन पत्रिका, कला–अंक, पृ. 476–85
13. क्रोचे : ऐंस्थेटिक, पृ. 144
14. बी. बोजांके : हिस्ट्री ऑफ एस्थैटिक्स, पृ. 38
15. देखिए, सम्मेलंन पत्रिका, कला–अंक, पृ. 31
16. डॉ. रामानन्द तिवारी : साहित्य कला, पृ. 75
17. रूप-भेदा : प्रमाणानि भावलावण्य योजनम्,
    सादृश्यं वर्णिका भंग, इति चित्र षडंगकम् ।
    -काम-सूत्र 1/3 की टीका –यशोधर पंडित, जय मंगला
18. विस्तार से देखिए – सम्मेलन पत्रिका, कला–अंक
19. हरबर्ट रीड : दि मीनिंग ऑफ आर्ट, पृ, 37
20. कलानां प्रवरं चित्रं धर्म कामार्थ मोक्षदम् ।
    मगल्यं प्रथमं चैतदगृहे यत्र प्रतिष्ठितम् ॥
    -विष्णु धर्मोत्तर पुराण– चित्र सूत्रम् 43/38
21. रायकृष्णदास : भारत की चित्रकला, पृ. 1
22. देखिए, डॉ. जगदीश गुप्त : भारतीय कला के पदचिह्न, पृ. 8
23. Poetry is a speaking picture and picture is a mute poesy : Lessing : Lacoon. P. 5
24. कुमारस्वामी : राजपूत पेण्टिंग, खण्ड- 1, पृ. 2
25. वासुदेवशरण अग्रवाल : भारतीय कला का अनुशीलन, कलानिधि, अंक–1, वर्ष– 1, पृ. 18–20.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

2

भौगोलिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि

भारतीय परिदृश्य में राजस्थान का सांस्कृतिक वैभव बेजोड़ है। त्यागमयी ललनाओं, साहसी वीरों और गरिमामयी संस्कृति का यह प्रदेश अनेक ऐतिहासिक मोड़ों से गुजरने के उपरान्त भी अपनी समन्वयात्मक जीवन-पद्धति के लिए प्रसिद्ध रहा है। राजस्थान का नाम स्वयं एक सांस्कृतिक एकता का सूचक है, जो युगों से भारतीय परम्परा से जुड़ा रहा है। प्राचीन समय से ही यह क्षेत्र देश की समृद्ध इकाइयों का अंग था, जिसमें अन्तर्वेद, सौवीर, मरुकान्तार, लाट, गुर्जर आदि भूभागों की सीमाएँ सम्मिलित थीं। अंग्रेजों ने अन्य देशी रियासतों को मान्यता देकर इसका नाम राजपुताना रख दिया और स्वतंत्रता के बाद विलय-प्रक्रियाओं के अन्तर्गत इसका नामकरण हर्षकालीन व्यवस्था के आधार पर राजस्थान कर दिया गया।[1]

भौगोलिक दृष्टि से यह प्रदेश उत्तर में पंजाब, हरियाणा, पूर्व में उत्तरप्रदेश के ब्रजमण्डल, दक्षिण में मध्यप्रदेश के मालवा और गुजरात प्रदेश से सटा हुआ है, तो पश्चिमी वृहद् भूभाग पाकिस्तान की सीमा से लगा हुआ है। दिल्ली, मथुरा, आगरा, ओरछा, मॉंडू, अहमदाबाद, सिन्ध, हैदराबाद जैसे राजनैतिक और सांस्कृतिक हलचल के केन्द्रों के बीच का यह वृहद् प्रदेश भौगोलिक दृष्टि से भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं रहा। यहाँ एक ओर दूर-दूर तक फैली अरावली की श्रृंखलाएँ हैं, तो दूसरी ओर विराट् मरुस्थल। एक ओर पूर्वांचल और दक्षिणांचल हरीतिमा के वैभव से युक्त है तो दूसरी ओर मरु के टीलों का अखंण्ड साम्राज्य। उत्तर में गंगानगर से लेकर दक्षिण में डूँगरपुर, बाँसवाड़ा तक और पूर्व में अलवर, भरतपुर से लेकर पश्चिम में जैसलमेर तक फैला यह प्रदेश आकार में ही बड़ा नहीं, वरन् प्राकृतिक सम्पदा, कलात्मक वैभव, रहन-सहन, वेशभूषा, बोली, भाषा, धर्म और दर्शन आदि में भी इतना समृद्ध और सम्पन्न है कि इसकी तह तक संस्कृतिकर्मी अभी भी बहुत कम पहुँच पाये हैं।

राजस्थान में चित्रांकन के पुरासाक्ष्य

राजस्थान में प्राचीन से प्राचीनतम संस्कृति के पुरासाक्ष्य उपलब्ध हुए हैं, जिनके माध्यम से इस भू-क्षेत्र के सांस्कृतिक महत्त्व को आँका जा सकता है। यहाँ पहाड़ों की कन्दराओं और महत्त्वपूर्ण नदियों के किनारे प्रस्तरकालीन संस्कृति के उपकरण बहुलता से उपलब्ध हुए हैं। ईसा के तीन हजार वर्ष की ताम्रयुगीन संस्कृति

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

का राजस्थान केन्द्रबिन्दु रहा है। सरस्वती नदी के किनारे ऋग्वेद की रचना एवं सरस्वती घाटी सभ्यता का प्रसार राजस्थान की ही देन है। कुषाणकाल एवं मध्यकाल में मूर्तिकला एवं मन्दिरों के निर्माण की कला ने जो प्रसार पाया है, वह अब अनभिज्ञ नहीं रहा है। उत्तर–मध्यकाल में पटचित्रों एवं ताड़पत्रों और अन्य पोथी-चित्रों की परम्परा अक्षुण्ण रही है। इन्हीं के माध्यम से राजस्थान में चित्रांकन के पुरासाक्ष्यों की खोजबीन की जा सकती है।

प्रागैतिहासिक पुरावशेष : शैल-चित्र

प्राचीनतम चित्रण के अवशेष शैलाश्रयों में मिले हैं। पहाड़ों की कन्दराओं एवं नदियों के किनारे चट्टानों के कटाव के कारण बनी गुहाओं में आदिमानव निवास करता रहा है। इन शैलाश्रयों में मानव की सृजनात्मक प्रवृत्ति का सहज ज्ञान होता है।

योरोप में स्पेन की अल्तीमॉरा की गुफाएँ तथा भारत में भीमबेठका की गुफाएँ आदि-मानव की संस्कृति की विस्तृत जानकारी देती हैं। राजस्थान प्रदेश भी इस दृष्टि से पीछे नहीं है। यहाँ अब तक सैकड़ों गुफाएँ ऐसी खोजी जा चुकी हैं, जिनमें तीस हजार वर्ष पूर्व से लेकर बाद तक के शैलाश्रयों में अनेक प्रकार के रेखांकन और चित्रांकन विस्तार से उपलब्ध हुए हैं।[2]

ये शैलाश्रय चम्बल नदी के किनारे कोटा जिले में सर्वाधिक प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त भरतपुर में बंध बरैठा एवं विराटनगर की पहाड़ियों में भी इनकी खोज की जा चुकी है। अर्बुदांचल की श्रृंखलाओं में ऐसे शैलाश्रयों की खोजबीन होना अभी शेष है। व्यावर के पास सैंदड़ा की पहाड़ियों में शैलचित्र खोजे जा सकते हैं।

राजस्थान में चित्रण अवशेषों के ये प्राचीनतम उदाहरण हैं, जिनसे यहाँ के आदिमानव के रहन–सहन, खानपान तथा उसकी सृजनात्मक कल्पना का पता चलता है। कोटा के आसपास चम्बल के किनारे की चट्टानों, मुकन्दरा एवं दर्रा की पहाड़ियों एवं अलनिया नदी के किनारे की चट्टानों में निर्मित शैलाश्रय इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं। यहाँ पर तीस हजार वर्ष पूर्व से लेकर अब तक के निर्मित शैलचित्र अनेक रूपाकारों में प्राप्त हुए हैं। पार्वती उपत्यका में कन्यादह, कपिल धारा एवं कामघात शैलाश्रयों में नृत्य करते मानव, गैंड़ा, बारहसिंगा, हिरण आदि के चित्रांकन एवं चम्बल के किनारे जवाहरसागर, नाहरसिही माताजी, कोटा के पास की चट्टानों आदि में वृषभ, हिरण, हाथी एवं प्राकृतिक उपकरणों का अंकन बहुलता से हुआ है। दर्रा की पहाड़ियों के शैलाश्रय भी इसी प्रकार के रूपाकारों से अंकित हैं।[3]

कोटा से 22 किलोमीटर दूर अलनिया कस्बे के पास मुकन्दरा पर्वत से निकलने वाली अलनिया नदी के किनारे तीन ऐसे शैलाश्रय प्राप्त हुए हैं जिनमें शताधिक संख्या में आदिमानव द्वारा चित्रित शैलचित्र उपलब्ध हुए है[4], जो लगभग 16 हजार वर्ष पूर्व से लेकर, बाद तक की राजस्थान में चित्रण की प्रवृत्ति का इतिहास उजागर हुआ है। इन चित्रों में भी पशुओं के चित्र सर्वाधिक हैं। बैल, हिरण,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बकरी, बारहसिंगा, नीलगाय, चीता, हाथी, गैंडा के अतिरिक्त मानव एवं देवी-देवताओं के चित्र भी यहाँ अंकित हैं। भरतपुर के दरा एवं पुष्कर के अगस्त्य मुनि के आश्रम, सवाईमाधोपुर के सोलेश्वर एवं अमरेश्वर स्थानों के शैलाश्रयों में भी इसी प्रकार के शैलचित्र खोज निकाले गये हैं। अभी हाल ही में राजस्थान पुरातत्त्व विभाग के निवर्तमान निदेशक श्री पी. एल. चक्रवर्ती एवं अधीक्षक श्री विजय कुमार ने अपने अन्य साथियों के सहयोग से बैराठ की पहाड़ियों के शैलाश्रयों में भी अनेक चित्र खोज निकाले हैं, जो शैलचित्रों की उपर्युक्त परम्परा से मेल खाते हैं। अभी वहाँ खोजबीन जारी है।

इन शैलचित्रों के अध्ययन से पता चलता है कि प्राचीनतम चित्रों में जहाँ हरे रंग का प्रयोग हुआ है, वहीं बीच के समय के सर्वाधिक चित्र लाल गेरूँई रंग में बनाये गये हैं। बहुत बाद के चित्रों में कत्थई रंग का प्रयोग किया गया है। कहीं-कहीं सफेद रंग के रेखांकन भी उपलब्ध होते हैं। ये शैलचित्र राजस्थान प्रदेश की प्राचीन सभ्यता का जहाँ अनावरण करते हैं, वहीं चित्रकला के इतिहास में भी पुरासाक्ष्य की दृष्टि से अध्ययन योग्य हैं।

ताम्र एवं लौहयुगीन चित्रावशेष : मृद्भाण्ड

राजस्थान में ईस्वी के तीन हजार वर्ष पूर्व के ताम्रयुगीन संस्कृति के जो अतुल भण्डार मिले हैं, उन्होंने संसारभर के सांस्कृतिक इतिहास की कड़ियाँ जोड़ दी हैं। गणेश्वर (सीकर), आहाड़ (उदयपुर), गिलूण्ड (उदयपुर), कालीबंगा (श्रीगंगानगर), नगरी (चित्तौड़) आदि स्थलों के उत्खनन में ढेर सारी कलात्मक सामग्री ताँबे की बनी एवं मृद्भाण्डों के रूप में प्राप्त हुई है। विशेषतः मृद्पात्रों पर जो चित्रावशेष एवं रेखांकन प्राप्त हुए हैं, वे चित्रकला के इतिहास में कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

गणेश्वर से कपिषवर्णी मृद्पात्र प्राप्त हुए हैं, जिनमें प्याले, तश्तरियाँ, कूँडियाँ, घड़े आदि प्रमुख हैं।[5] इस समय लगता है लोग मृद्भाण्डों को बनाने एवं उनकी सज्जा करने में प्रवीण थे। कपिषवर्णी मृद्भाण्डों पर काले तथा नीले रंग के अलंकृत चित्र चित्रकला के ताम्रयुगीन स्वरूप की जानकारी देते हैं। इन भाण्डों पर अनेक प्रकार का रेखांकन बहुलता से देखा जाता है, जिनमें कहीं पानी की लहरें बनाई गयी हैं, कहीं ज्यामितिक रूपाकार हैं तो कहीं खोबे लगाकर उसे गोदा गया है। घड़ों और कूँडियों के घिरगनों के भीतरी भाग में लकीरें खींची गयी हैं, जिनका कोई महत्त्वपूर्ण अभिप्राय रहा है। कातली नदी के किनारे तथा आसपास ऐसी तीन सौ केन्द्रों की खोज की जा चुकी है, जहाँ गणेश्वर संस्कृति पल्लवित और पुष्पित हुई है। इस दृष्टि से सरस्वती-दृषद्वती नदी के कोंठे पर कालीबंगा के पुरावशेष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। यहाँ के निवासी मिट्टी के सुन्दर बर्तन बनाते थे तथा उन्हें चित्रांकित करते थे। मृद्भाण्डों पर दाहिने से बायीं ओर लिखी जाने वाली सैन्धव लिपि के जो कलात्मक नमूने प्राप्त हुए हैं, वे संस्कृति की छिपी दाय को उजागर करते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उदयपुर के पास आहड़ एवं गिलूण्ड में लगभग 4000 वर्ष पुराने ऐसे पुरावशेष मिले हैं, जो नगरीय सभ्यता के विकास को उद्घाटित करते हैं। यहाँ से उपलब्ध काले व लाल मृद्भाण्डों पर लयबद्ध रेखाएँ, बिच्छू, मानव, पशु, पक्षी आदि रूपाकारों के साथ सधा हुआ ज्यामितिक रेखांकन कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है ।[6] यहाँ से मिले भोजन के बर्तनों की पार्श्वभूमि काली है, किनारा लाल और कुछ बर्तनों पर सफेदी से चित्रकारी की गयी है। कुछ बर्तनों पर चित्रकारी नहीं है पर उनके ऊपरी भाग को छोटे-छोटे टुकड़ों से सजाया गया है तथा नीचे का हिस्सा शायद जमीन में बर्तन को गाड़ने के लिए खुरदरा रखा गया है। आहड़ संस्कृति के केन्द्र बेड़च, बनास नदियों के काँठे में खोज निकाले गये हैं, जिनमें गिलूण्ड का टीला महत्त्वपूर्ण है। यहाँ के मृद्भाण्डों पर ज्यामितिक अलंकरण के साथ प्राकृतिक अलंकरण भी उपलब्ध हैं ।[7]

ताम्रयुग के बाद लौहयुगीन समय में सलेटी रंग की चित्रित मृद्भाण्ड संस्कृति के अनेक पुरावशेष उपलब्ध हुए हैं, जिनमें राजस्थान में नोह (भरतपुर), जोधपुरा (जयपुर), विराटनगर (जयपुर) एवं सुनारी (झुंझुनू) आदि प्रमुख हैं। कटोरा, लोटा, थाली जैसे बर्तनों पर काले रंग की ज्यामितिक चित्रकारी इन मृद्भाण्डों की विशेषता रही है। इन्हीं स्थानों पर मौर्यकालीन सभ्यता के काली पॉलिशयुक्त चित्रित मृद्भाण्ड भी बहुलता से उपलब्ध हुए हैं। मौर्यकाल में विराटनगर बौद्धधर्म का प्रमुख केन्द्र था, इसलिए अशोक के समय की कलात्मक सामग्री यहाँ बहुलता से प्राप्त हुई है।

इस दृष्टि से मृद्भाण्डों के चित्रावशेष राजस्थान में चित्रकला की सहज प्रवृत्ति का ज्ञान कराते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि चित्रकर्म की एक लंबी परम्परा का इस प्रदेश में पोषण होता रहा है।

कुषाण एवं गुप्तकाल तथा मध्यकालीन पुरावशेष : मूर्ति तथा मंदिर शिल्प

मूर्तिकला एवं चित्रकला में माध्यम का भेद होते हुए भी वे एक-दूसरी पर अन्योन्याश्रित रही हैं। मूर्ति बनाने से पूर्व माध्यम पर रेखांकन एवं खत खींचने की परम्परा शास्त्रीय रही है। यही कारण है कि मूर्तिकला के साथ-साथ चित्रकला का भी विकास अवश्य होता रहा है, पर चित्रण कम स्थायी होने के कारण आज कुषाण एवं गुप्तकाल का राजस्थान प्रदेश में उपलब्ध नहीं है। बाद में मंदिरों में मूर्तिकला का चित्रकला पर और चित्रकला का मूर्तिकला पर प्रभाव अवश्य द्रष्टव्य है ।[8]

राजस्थान में मूर्तिकला के प्राचीन महत्त्वपूर्ण उदाहरण उपलब्ध होते हैं। कुषाणकालीन यक्ष संस्कृति से संबंधित अनेक मूर्तियाँ भरतपुर क्षेत्र में प्राप्त हुई हैं, जिनमें नोह की जाख बाबा की मूर्ति विशेष उल्लेखनीय है। शैव और वैष्णव धर्म की मूर्तियाँ भी बहुलता से प्राप्त हुई हैं, जिनमें चौमा, भण्डपुरा (भरतपुर), नाँद (अजमेर), रंगमहल (बीकानेर) आदि स्थानों के शिवलिंग एवं नगरी (चित्तौड़), नगर (टोंक), साँभर (जयपुर) तथा पीलीबंगा आदि की वैष्णव मूर्तियाँ इतिहास के संदर्भ में महत्त्वपूर्ण हैं ।[9]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बौद्ध संस्कृति का प्रभाव विराटनगर (जयपुर) में अत्यधिक रहा है, इसलिए अशोक महान् के अभिलेखों के साथ ही अनेक पुरावशेष यहाँ उपलब्ध हुए हैं। गुप्तकाल (319–600 ई.) प्राचीन भारत का स्वर्णयुग रहा है। चूँकि राजस्थान गुप्त साम्राज्य का अंग नहीं रहा, पर कलाओं के प्रभाव-क्षेत्र से राजस्थान अछूता नहीं रहा। हाड़ौती क्षेत्र में चार चौमा तथा मुकन्दरा के शिव मंदिर के अवशेष, नगरी (चित्तौड़), मण्डौर (जोधपुर), रंगमहल(बीकानेर) एवं विराटनगर के कलावशेष गुप्तकालीन वैभव को उद्घाटित करते हैं।

मध्यकाल में मंदिरों की श्रृंखला जो राजस्थान में उपलब्ध है; यह सांस्कृतिक धरोहर की अनुपम दाय है। उन मंदिरों की मूर्तियाँ कला के ऐतिहासिक विकास को ही उजागर नहीं करती, वरन् उनके माध्यम से उस समय की चित्रकला के आपसी प्रभाव की भी खोजबीन की जानी चाहिए, कारण कि ये दोनों कलाएँ एक-दूसरे के बहुत नजदीक हैं। मूर्तिकला और चित्रकला का मनुष्य की दृष्टि से सरोकार है। दृश्यमान जगत अपने रंगरूप, रेखा, आकृति, घनत्व, आयतन, अर्थ इसी दृश्यमान रूप से मंडित है। ये बिंब मूर्ति एवं चित्रकला के माध्यम से ही उभरते हैं। पुनर्प्रस्तुति इन कलाओं की धुरी है। ये कलाएँ स्थानिक (Space) एवं अचल हैं। एक फ्रोजन दृश्य हैं, जिनके इर्द-गिर्द गतिशील होकर इनकी गत्यात्मकता और कलात्मक सौन्दर्य की पकड़ की जा सकती है। इसलिए मूर्तिकला और चित्रकला के पारस्परिक प्रभाव और संबंधों पर विस्तार और गहराई से जब कार्य होगा तो चित्रकला के उद्भव और उत्कर्ष की थाह आसानी से मिल सकेगी। मूर्तिकला के उत्कर्ष के साथ चित्रकला कंधे से कंधा मिलाकर न चली हो यह माना ही नहीं जा सकता। अजन्ता की मूर्ति-शिल्प और चित्रकला इस समन्वय का साक्षात् उदाहरण है, किन्तु राजस्थान में तत्कालीन चित्रकला की अनुपलब्धता के कारण कुछ कहा नहीं जा सकता।

मन्दिर शिल्प

गुप्तकाल की समाप्ति से लेकर 15वीं शती तक राजस्थान उत्तर भारतीय मंदिर निर्माण का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा है। राजस्थान में सबसे पहला समयांकित मंदिर झालरापाटन में शीतलेश्वर महादेव का है, जिसका मूल भाग 689 ई. में बना।

सांस्कृतिक इतिहास में गुर्जर प्रतिहारों का स्थान बेजोड़ है। मण्डौर, मेड़ता और जालौर में राज्य करने वाले गुर्जर प्रतिहारों का वैभव पूरे राजस्थान में फैल गया, इसलिए 8वीं से 10वीं शताब्दी तक अधिकतर बने मंदिरों में महामारु शैली की विशिष्टताएँ, लोक कलात्मक सहजता, भावानुकूल अलंकरण के साथ मानवीय जीवन्तता द्रष्टव्य है। इस दृष्टि से ओसियाँ के मंदिरों की श्रृंखला तथा लाँबा, बुचकला, मण्डौर आदि स्थानों के मंदिर कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

मत्स्य प्रदेश में आभानेरी तथा राजौरगढ़ के मंदिर भी गुर्जर प्रतिहारों की कलात्मक धरोहर की महत्त्वपूर्ण कड़ी हैं।[10] आठवीं से दसवीं शताब्दी तक राजस्थान में ऐसा कोई स्थान नहीं बचा जहाँ गुर्जर प्रतिहारों ने कलात्मक मंदिर और बावड़ियाँ न बनवाई हों। इन मंदिरों में बौद्ध, गुप्त, गान्धार आदि प्रभावों से अलग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हटकर प्रतिहारों की स्थापत्य एवं तक्षणकला की माँसलता, लालित्य, लोक-कलात्मक सहजता, आलंकारिकता तथा जनजीवन की भोगपरक झाँकी विशेष रूप से देखने को मिलती है। अवश्य ही इस दृश्यमान कला का प्रभाव यहाँ की चित्रण-परम्परा पर पड़ा होगा। नवीं शताब्दी मध्य में मिहिर भोज के कन्नौज में राजधानी बनाने के उपरान्त राजस्थान में प्रतिहारों की कला-परम्परा के साथ चौहानों की शक्ति उभरने के कारण कैंकीद, हर्षनाथ, नाडौल आदि स्थानों में अनेक मंदिर बने।

पूर्वी-दक्षिणी राजस्थान भी मंदिर-निर्माण की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं रहा। हाड़ौती में बाड़ौली, रामगढ़, कंसुआ, मैनाल, कवालजी आदि स्थानों के मंदिर कला के इतिहास में विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। हाड़ौती क्षेत्र में मंदिर निर्माण की यह परम्परा दर्रा (छठी शताब्दी) से लेकर केशोरायपाटन (15वीं शताब्दी) तक फैली हुई है।

दक्षिणी-पश्चिमी राजस्थान कला और संस्कृति की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। राजस्थानी चित्रकला का उद्भव इसी प्रदेश में हुआ, अतः यहाँ के मंदिरों, मूर्तिकला में तक्षण एवं चित्रकला के पारस्परिक संबंधों की दृष्टि से विशेष अध्ययन की गुंजाइश है। अम्बिका माता जगत (लगभग 925 ई.) सास-बहू का मंदिर, नागदा (लगभग 975 ई.), लकुलीश मंदिर, एकलिंगजी (872 ई.) तथा अर्थूना, देव सोमनाथ, आहाड़ आदि स्थानों के मंदिरों के साथ ही चित्तौड़ के कालिका-माता (पूर्व में सूर्य मंदिर), कुम्भस्वामी (शिव मंदिर), कुम्भ मेरु (विजयस्तम्भ) आदि में प्रारंभिक राजस्थानी कला के सूत्र विस्तार से खोजे जा सकते हैं जिनका आगे विवेचन किया जायेगा।

हिन्दू-धर्म के साथ ही जैन-धर्म राजस्थानी संस्कृति की रीढ़ रहा है। जैन-धर्म ने कला और संस्कृति का संवर्द्धन ही नहीं किया, वरन् कलात्मक धरोहर की आज तक रक्षा भी की। राजस्थान में जैन-धर्म से संबंधित मंदिरों की एक लंबी श्रृंखला उपलब्ध होती है, जिनमें 8वीं शती से लेकर 12वीं शती तक ओसियाँ, घाणेराव, सादड़ी, पाली, नरलाई आदि स्थानों पर महावीर स्वामी, पार्श्वनाथ, आदिनाथ आदि के मंदिर बने।[11] यह परम्परा आगे भी विकसित होती रही, जिसमें विमलशाह द्वारा निर्मित (1031 ई.) आदिनाथ का मंदिर एवं वस्तुपाल तेजपाल द्वारा निर्मित (1230 ई.) नेमिनाथ का मंदिर आन्तरिक सज्जा के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। यहाँ मूर्तिकला, वेलबूँटे, कमल वन, अलंकरण आदि संगमरमर की कोराई और घड़ाई के अन्यतम उदाहरण हैं। इसी परम्परा में अर्बुदांचल की गोद में रणकपुर में 15वीं शती का चतुर्मुख जैन-मंदिर तथा लोद्रवा और जैसलमेर के जैन-मंदिर भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

गुजरात तथा राजस्थान का यह पश्चिमी भाग 'गुर्जरत्रा' प्रदेश कहलाता था और कभी इसकी राजधानी भीनमाल थी, अतः जैन संस्कृति का यहाँ बहुलता से विस्तार हुआ। प्राचीन हस्तलिखित जैन-ग्रन्थों की चित्रकला और इन मंदिरों की तक्षणकला का पारस्परिक प्रभाव विशेष उल्लेखनीय है, जिस पर विस्तार से कार्य होने की गुंजाइश है। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि इन मंदिरों में जैन-ग्रन्थों का निर्माण हुआ और उन्हें सुरक्षित रखने के लिए मंदिरों में कोठ्यार बनाये गये।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उत्तर-मध्यकालीन चित्रावशेष : हस्तलिखित ग्रंथ एवं काष्ठफलक

हस्तलिखित ग्रंथों की परम्परा प्राचीन रही है। ये पोथियाँ लेखन के साथ-साथ चित्रित भी की जाती रही हैं, अतः चित्रकला के पुरासाक्ष्य की दृष्टि से इन हस्तलिखित ग्रंथों का स्थान सर्वोपरि है। प्राचीन भारत में भूर्जपत्र एवं ताड़पत्र पर काव्य-लेखन एवं चित्रण की परम्परा में भोजपत्र एवं ताड़पत्र को एक आकार में काटकर उस पर लेखन, अंकन करने के बाद उन पृष्ठों में छेद कर ग्रंथित करने के कारण उन्हें ग्रंथ कहा गया। साथ ही इस ग्रंथों को सुरक्षित रखने एवं सज्जा की दृष्टि से सुन्दर, सचित्र काष्ठ-पट्टियों के नीचे-ऊपर कवर लगाये गये जो कला की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। ये ग्रंथ जैन-भण्डारों एवं संग्रहालयों में उपलब्ध हैं। 12वीं शताब्दी में कागज के आविष्कार ने ग्रंथों के चित्रण में क्रान्ति ला दी।[12] कागज एक ऐसा माध्यम है, जिसमें काव्य और चित्रकला दोनों का अंकन सहजता और विस्तार से हो सका। लघुचित्रों की परम्परा का विस्तार तो कागज की ही देन है।

पोथी-चित्रण की दृष्टि से राजस्थान प्रदेश सर्वाधिक समृद्ध है। जैसलमेर के प्राचीन भण्डारों में जो सचित्र ग्रंथ उपलब्ध हैं, वे कला के इतिहास में बेजोड़ हैं।[13] यह और भी प्रसन्नता की बात है कि बहुत से ग्रंथ तत्कालीन राजस्थान की ही पृष्ठभूमि में निर्मित हुए। 8वीं से 10वीं शताब्दी में तत्कालीन राजस्थान का पश्चिमी-दक्षिणी भाग गुर्जरत्रा प्रदेश का ही भाग था, जहाँ पश्चिमी भारतीय कला गुजरात शैली, जैन शैली, अपभ्रंश शैली के रूप में विकसित हुई और आगे चलकर इसी परम्परा ने संसार प्रसिद्ध राजस्थानी चित्रकला के उद्‌भव और विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की।

8वीं शताब्दी में राजस्थान की पृष्ठभूमि में लिखे कई ऐसे ग्रंथ मिले हैं, जिनमें चित्रकला के संविधान का पता चलता है। चित्तौड़ में लिखा गया हरिभद्र सूरि कृत 'समराइच्छ कहा' तथा 'उद्योतसूरि कृत 'कुवलयमाला कहा' ग्रंथ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, जिनमें चित्र-निर्माण की पद्धति रेखांकन, उत्तम रूपांकन, रंग-संयोजन आदि का विस्तार से विवरण दिया गया है।[14] तिब्बती इतिहासकार तारानाथ (1608 ई.) ने मरुप्रदेश (मारवाड़) में 7वीं शती से श्रृंगधर नामक चित्रकार की चर्चा की है, जो इस शैली का प्रमुख चित्रकार था तथा मरु प्रदेश के शासक शील के राज्याश्रय में कलाओं के उत्थान में उसने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी।[15] खेद यही है कि उस समय के चित्र आज अनुपलब्ध हैं।

ग्रंथ-चित्रण की परम्परा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रंथ जैसलमेर भण्डार में उपलब्ध हुए हैं, जिनमें वि. सं, 1117 (1060 ई.) के दो ग्रंथ क्रमशः 'ओघ-निर्युक्ति वृत्ति' एवं 'दस वैकालिका सूत्र चूर्णि' पश्चिमी भारतीय कला के दीपस्तम्भ हैं।[16] इन दोनों ग्रंन्थों की प्रशस्तियों में एक ही ज्ञाता, एक ही पात्र साधु और एक ही लिपिकार का उल्लेख है। 'ओघनिर्युक्ति' में जहाँ ज्यामितिक अलंकरण की शोभा अधिक है, वहीं कामदेव, लक्ष्मी-हाथी आदि का कलात्मक अंकन भी प्रतिहारकालीन कला का महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है। कामदेव द्वारा बाण छोड़े जाने तथा श्री एवं हाथियों के सुरक्षापूर्ण अंकन से चित्रकला की दीर्घ परम्परा का पता चलता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जैसलमेर के भण्डार में अनेक काव्य-पट्टिकाएँ उपलब्ध हैं, जो ताड़पत्र के ग्रंथों के रक्षार्थ कवर के रूप में काम ली जाती रही हैं ।[17] इन पट्टिकाओं पर गहरे रंग से ज्यामितिक आकारों, फूल-पत्तियों एवं पशु-पक्षियों तथा मानव की आकृतियाँ कलात्मक ढंग से अंकित की गयी हैं । कमल, हाथी, बतख, हंस, शेर, हिरण, जिराफ आदि का अंकन विशेषतः हुआ है । इन पट्टिकाओं के चित्रण को अजन्ता-एलौरा की परम्परा से जोड़कर देखा जा सकता है । राजस्थानी चित्रकला के रूप और रंगों का पूर्वाभास इन पटलियों में निरखा जा सकता है ।

10वीं शताब्दी के बाद गुर्जर प्रतिहारों के अपकर्ष के कारण इस प्रदेश में सपादलक्ष के चौहानों, गहलौत, परमार आदि साम्राज्यों का प्रभुत्व हो गया । गुजरात में भी सिद्धराज जयसिंह एवं कुमारपाल प्रभावशाली शासक हुए । 11वीं से 12वीं शताब्दी में गुजरात से लेकर मालवा, दक्षिणी-पश्चिमी राजस्थान मरुप्रदेश आदि में जैन-धर्म का उत्कर्ष अपनी चरम सीमा पर था, इसलिए कलाओं में जैन-धर्म के कथानकों को विशेष आधार बनाया गया ।[18] जिनदत्तसूरी के खरतरगच्छ का विस्तार भी उसी समय हुआ । इस दृष्टि से जैन-ग्रंथों का सैकड़ों की तादात में आन्दोलन के रूप में सुलेखन एवं चित्रांकन हुआ जिनमें कल्पसूत्र-कालिका धर्म-कथा, नेमिनाथ चरित्र, पार्श्वनाथ चरित्र, महावीर स्वामी चरित्र, न्यायतीर्थ टीका, ओधनिर्युक्ति, दशवैकालिक सूत्र आदि प्रमुख विषय रहे हैं । इन ग्रंथों के चित्रण को जैन शैली, गुजरात शैली, पश्चिमी भारतीय शैली तथा अपभ्रंश शैली के नाम से अभिहित किया गया । इन चित्रों में सवाचश्च चेहरा एवं एक आँख का चौथाई भाग पृष्ठभूमि में उभरा हुआ, काजल की रेख कानों तक खिंची हुई, गरुड़ जैसी नाक, परवली फाँक जैसी आँख, आम की गुठली जैसी दाढी, ओंठ पतले व मिले हुए, लंबे छिदे हुए कान, कंठ में रेखाएँ, घुमावदार लंबी पर ऐंठी हुई उँगलियाँ, अधिक उभरा हुआ वक्ष, क्षीण कटि, भारी पाँव, अंग-भंगी, मुद्रा एवं आसन अकड़े हुए, बादल, वृक्ष, पर्वत, नदी आदि के चित्रण में जकड़न के साथ अलंकरण का प्राबल्य एवं लाल पीले रंगों का विशेष प्रयोग द्रष्टव्य है ।[19] सचित्र ग्रंथों की परम्परा में चौहान काल में 'पंचशतक प्रकरण-वृत्ति' वि. सं(1212 (1155 ई.), 'उपदेशप्रकरण वृत्ति' वि. सं. 1216 (1159 ई.), देश वैकालिक सूत्र चूर्णि (12वीं शती) क्रमशः पाली, अजमेर, पाली में लिखे एवं चित्रांकित किये गये ।[20]

पुरासाक्ष्यों की दृष्टि से कुछ भवनों और प्राचीन मंदिरों में शिलोत्कीर्ण रेखांकन भी उपलब्ध हुए हैं जिनमें समिद्धेश्वर महादेव मंदिर, चित्तौड़ वि. सं. 1286 (1229 ई.) का रेखांकन विशेष उपयोगी है ।[21] इन रेखांकनों में सूत्रधार शिल्पियों में दो पुरुष और एक स्त्री का अंकन अपभ्रंश शैली में किया गया है ।

जैन भण्डार जैसलमेर में उपलब्ध पोथी-चित्रों में भद्रबाहु स्वामी रचित कल्पसूत्र (वि. सं. 1216 ई.) भारतवर्ष के पश्चिमी भाग का एक महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रंथ है, जिसमें जैन-शैली की उपर्युक्त सभी विशेषताएँ खोजी जा सकती हैं । राजस्थान में ताड़पत्र पर रचित एवं चित्रित 'सावग पड़िकमण सुत्त चुन्नी' (श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र–चूर्णी) कला के साक्ष्य की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है,[22] जो अघाट, (आहाड़, उदयपुर) में वि. सं. 1317 (1260 ई.) में गुहिल्ल तेजसिंह के राज्यकाल में रचा गया, जिसकी साज-सज्जा नागदा के मंदिरों एवं चित्तौड़ के मोकल के मंदिर की तक्षण कला की समता में है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मुसलमानों के बार-बार आक्रमणों के कारण इस प्रदेश की कलात्मक धरोहर भी अवश्य ही विनष्ट हुई, जिसमें चित्रकला के साक्ष्य पहले नष्ट हुए होंगे। अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़, रणथम्भौर, जैसलमेर, आबू आदि स्थानों को ध्वस्त करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। इस उथल-पुथल के बाद भी अनेक साम्राज्यों जैसे मेवाड़, आबू, जैसलमेर आदि ने अपनी स्वायत्तता हासिल की और कला का स्रोत फिर अपने नवीन रंगरूप और शैली को लेकर प्रवाहित हो चला। अनेक ग्रंथों की रचना हुई और उन्हें चित्रित किया गया।

इस दृष्टि से जैसलमेर भण्डार में सुरक्षित 'पाण्डव चरित्र' (वि. सं. 1429) विशेष उल्लेखनीय है, जिसमें सम्पूर्ण पृष्ठ को अपभ्रंश शैली में चित्रांकित कर आगे की परम्परा को पुष्ट किया। इसी के उदाहरणस्वरूप मोकल के शासनकाल में देवकुल पाटक (देलवाड़ा, उदयपुर) में सं. 1480 (सन् 1422-23 ई.) में लिखित एवं चित्रित 'सुपासनाह चरियम्' (सुपार्श्वनाथ चरितम्) ग्रंथ राजस्थान के चित्रण की भावभूमि एवं जैन गुजरात शैली के प्रभाव से युक्त अनोखा ग्रंथ है [23] जिसके सैंतीस चित्रों की पृष्ठभूमि लाल एवं हिंगलू रंग से मंडित एवं स्त्री-पुरुषों के वस्त्र हरे, नीले, गुलाबी और श्वेत रंगों से सुसज्जित हैं, जो राजस्थानी चित्रकला की पृष्ठभूमि को समझने में विशेष योगदान देते हैं। इसी शैली की कड़ी में सन् 1426 ई. का कल्पसूत्र भी उल्लेखनीय है जिसकी वेशभूषा महाराणा कुम्भा के विजय-स्तम्भ की मूर्तियों की वेशभूषा के अनुरूप है। महाराणा मोकल के समय में देलवाड़ा के नेमिनाथ मंदिर में 'ज्ञानार्णव'[25] नामक ग्रंथ की रचना वि. सं. 1485 में हुई जिसमें दो महत्त्वपूर्ण चित्र उपलब्ध हैं। कलाओं के क्षेत्र में महाराणा कुम्भा का नाम अविस्मरणीय है। इनके समय का भीकमजी द्वारा अंकित सं. 1492 का 'रसिकाष्टक'[26] ग्रंथ अनेक दृष्टि से उल्लेखनीय है जिसमें षट्ऋतु के छः चित्र दो भागों में विभाजित हैं तथा पृष्ठभूमि लाल ईंटों के अंकन में है। पुरुषों एवं पशुओं और प्रकृति का अंकन जैन-कला की जकड़न के विपरीत अधिक लयात्मक और गत्यात्मक है, जो आने वाली कला को एक नयी दृष्टि प्रदान करता है।

15वीं शती के प्रारम्भ में वैष्णव-धर्म के प्रभाव के कारण जैनेतर विषय भी चित्रांकन के आधार बनने लगे। राजस्थान में जैन-ग्रंथों का चित्रण आन्दोलन धीरे-धीरे राम और कृष्ण की लीलाओं तथा नायिकाभेद और राग-रागिनी में परिवर्तित हो गया। "इस दृष्टि से लगभग 1450 ई. के आसपास पश्चिमी भारत में एक प्रति 'गीतगोविन्द' और 'बालगोपाल स्तुति' चित्रित की गयी जो कृष्ण- चरित्र संबंधी प्रथम उपलब्ध अंकन है।"[27] सन् 1451 ई. में अपभ्रंश शैली में चित्रित 'वसंत विलास'[28] का प्रसिद्ध पटचित्र आचार्य रत्नगिरि द्वारा निर्मित किया गया जो राजस्थानी चित्रकला के उद्‌गम का महत्त्वपूर्ण साक्ष्य है। गोगुंदा के 'गीतगोविन्द आख्यायिका' (1460 ई.) जैसे सचित्र ग्रंथों से तो यह निश्चित ही हो जाता है कि राजस्थानी चित्रकला का उद्‌गम 16वीं शती आरम्भ से न मानने के कोई कारण नहीं हैं।

असल में तो इस प्रदेश की सांस्कृतिक धरोहर इतनी प्राचीन एवं अनवरत रही है कि जिसकी खोजबीन करने पर बहुत से पुरासाक्ष्यों की कड़ी हाथ लगती है, जिससे यहाँ की चित्रकला के उद्‌भव और विकास की पूर्व-पीठिका को सहज ही जाना जा सकता है। इस दृष्टि से विभिन्न ललितकलाओं के अन्तः

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अनुशासन के गहन अध्ययन से ही किसी विशिष्ट कला की जानकारी हो सकती है । राजस्थानी चित्रकला का भी अध्ययन इसी दृष्टि से किया जाना चाहिए ।

सन्दर्भ

1. देखिए-डॉ. गोपीनाथ शर्मा : राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास; पृ. 3
2. देखिए-गिरिराज कुमार : पेण्टेड रॉक शैल्टर फ्रॉम राजस्थान, विजयशंकर श्रीवास्तव : कल्चरल कन्टूर्स ऑफ इण्डिया; पृ. 278
3. देखिए- गिरिराज कुमार : पेण्टेड रॉक शैल्टर फ्रॉम राजस्थान, कल्चरल कन्टूर्स ऑफ इण्डिया; पृ. 278
4. देखिए- जगतनारायण : अलनिया के प्रागैतिहासिक शैलाश्रय चित्र, कल्चरल कन्टूर्स ऑफ इण्डिया, पृ. 330
5. देखिए- पुरातत्व : विजय कुमार, राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा; पृ. 12
6. देखिए-राजकीय संग्रहालय, आहड़ (उदयपुर)
7. देखिए- पुरातत्व : विजय कुमार - राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा; पृ. 14
8. देखिए-नागदा के मंदिरों का अपभ्रंश कला पर प्रभाव ।
9. देखिए-विजयशंकर श्रीवास्तव : पारंपरिक मूर्तिकला, राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा; पृ. 61
10. देखिए-जयसिंह नीरज : विनय अलवर अंक ; पृ. 44-46
11 देखिए-विजयशंकर श्रीवास्तव : जैन टैम्पल्स ऑफ राजस्थान, दी रिसर्चर : अंक- 14-15, वर्ष 84-85, पृ. 45-50
12. देखिए- कार्ल खण्डालवाला : राजस्थानी पेंटिंग- एन इन्ट्रोडक्शन, राजस्थान ललित-कला अकादमी-वार्षिकी-63, पृ. 11
13. देखिए- मुनि श्री पुण्यविजय : कैटलॉग ऑफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मैनिस्क्रिप्ट्स ऑफ जैसलमेर कलक्शन ।
14. देखिए-रामवल्लभ सोमानी : अर्ली एवीडेन्स ऑफ पेंटिंग्स फ्रॉम राजस्थान, वी. एस, श्रीवास्तव : कल्चरल कन्टूर्स ऑफ इण्डिया, पृ. 286
15. देखिए-ताराचन्द : तारानाथ एण्ड बुद्धिस्ट आर्ट, मार्ग 4/1, पृ. 63
16. देखिए-मुनि श्री पुण्यविजय : कैटलॉग ऑफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मैनिस्क्रिप्ट्स ऑफ जैसलमेर कलक्शन, पृ. 27; क्रमांक 84
17. देखिए-साराभाई मणिलाल नवाब : दि ओल्डेस्ट राजस्थानी पेंटिंग्स फ्रॉम जैन-भण्डार्स
18. देखिए- डॉ. मोतीचन्द्र : जैन मिनियचर पेंटिंग्स फ्रॉम वैस्टर्न इण्डिया, पृ. 58
19. देखिए- विजयवल्लभ स्मारक ग्रन्थ, बम्बई
20. रामवल्लभ सोमानी : अर्ली एविडेन्स ऑफ पेंटिंग्स फ्रॉम राजस्थान, कल्चरल कन्टूर्स ऑफ इण्डिया, पृ. 287
21. आर. वी. सोमानी एण्ड पी. एल. चक्रवर्ती : शोध पत्रिका नं. 25, पृ. 53-55
22. देखिए- म्यूजियम ऑफ फाइन आर्ट्स, बोस्टन-अमेरिका (भारतीय कलादीर्घा)
23. मुनि पुण्यविजय : आचार्य श्री विजयवल्लभ सूरी स्मारक ग्रंथ, पृ. 156 (ज्ञान भण्डार, पाटण में सुरक्षित)
24. सरस्वती भण्डार, उदयपुर में सुरक्षित
25. लालभाई दलपतभाई ज्ञान भण्डार, अहमदाबाद में सुरक्षित
26. सम्वत् 1492 वर्षे आषाढ़ सुदी-गुरौ श्री मे मेदपाट देशे श्री पं. भीकमचन्द रचित रसिकाष्टक समाप्त श्री कुम्भकरण आदेशात-1
27. डब्ल्यू. जी. आर्चर : दि लव्ज ऑफ कृष्णा, पृ, 94
28. फ्रियर गैलेरी ऑफ आर्ट, वाशिंगटन में लिपटवां पटचित्र, 436 इंच लंबा एवं 9.2 इंच चौड़ा तथा 427 चित्रों से सुसज्जित ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

3

राजस्थानी चित्रकला : उद्भव और विकास

चित्रकला के पुरासाक्ष्यों से यह बात स्पष्ट हो गयी है कि प्राचीन समय से ही प्रदेश में चित्रण की परम्परा पुष्ट रही है। तीस हजार वर्ष पूर्व के शैलचित्रों से लेकर आज तक की समकालीन राजस्थान की चित्रकला का उत्कर्ष-अपकर्ष कम आश्चर्यजनक नहीं है, किन्तु 'राजस्थान की चित्रकला' और 'राजस्थानी चित्रकला' में भेद करना चाहिए। 15वीं शताब्दी के प्रारम्भ में गुजरात-शैली, जैन-शैली, अपभ्रंश-शैली आदि, जो पश्चिमी भारतीय चित्रण-शैली के नाम से विख्यात हैं, उसकी परम्परा में नया रूपरंग और आकार लेकर राजस्थान प्रदेश में जो कला प्रस्फुटित हुई, उसे 'राजस्थानी चित्रकला' के नाम से जाना जाता है। चित्रकला की उपर्युक्त श्रृंखला में अजन्ता-एलौरा की परंपरा को निभाने वाली राजस्थानी चित्रकला का अपना निजी सांस्कृतिक परिवेश और इतिहास है।

नामकरण

राजस्थानी चित्रकला के नामकरण पर विद्वानों के विभिन्न मत हैं। अनेक तर्क-वितर्कों के उपरान्त भी कोई इसे 'राजपूत चित्रकला' और कोई 'राजस्थानी चित्रकला' कहता है। राजस्थानी चित्रकला का सबसे पहला वैज्ञानिक विभाजन स्वर्गीय आनन्द कुमार स्वामी ने 'राजपूत पेंटिंग' नामक पुस्तक में सन् 1916 ई. में किया।[1] उनके अनुसार राजपूत चित्रकला का विषय राजपूताना और पंजाब की पहाड़ी रियासतों से सम्बन्धित है। राजपूत चित्रकला को उन्होंने दो भागों में विभाजित किया– राजस्थानी अर्थात् राजपूताने से सम्बन्धित और पहाड़ी अर्थात् जम्मू, काँगड़ा, गढ़वाल, कसौली, चम्बा आदि पहाड़ी रियासतों से सम्बन्धित है। इन रियासतों के अधिकारी प्रमुखतया राजपूत राजा होने के कारण इसे राजपूत चित्रकला के नाम से अभिहित किया गया। उनके अनुसार राजस्थानी चित्रकला का प्रसार बीकानेर से गुजरात की सीमा तक और जोधपुर से ग्वालियर और उज्जैन तक रहा तथा इसके आम्बेर, औरछा, उदयपुर, बीकानेर, उज्जैन आदि कला-केन्द्र रहे।[2] इसके विपरीत स्वर्गीय रायकृष्णदास का कथन है कि, " डॉ. स्वामी ने अर्वाचीन भारतीय चित्रकला के प्रमुखतः दो वर्ग माने हैं– राजपूत शैली और मुगल शैली, किन्तु राजपूत शैली मानने की कोई गुंजाइश नहीं है। यद्यपि राजपूत जाति एक शासक जाति थी तो भी एक ऐसी जाति का प्रभाव समष्टि रूप से कला पर नहीं पड़ सकता, जिसके देशभर में भिन्न-भिन्न केन्द्र हों।[3] श्री बेसिलग्रे का कथन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है कि "राजपूताना विभिन्न देशी रियासतों का केन्द्र था, किन्तु राजपूत चित्रकला का विस्तार बुन्देलखण्ड से लेकर गुजरात तथा पहाड़ी राजपूत शासकों द्वारा शासित रियासतों तक था, इसलिए राजपूत चित्रकला नाम सार्थक है"[4] वाचस्पति गैरोला ने राजपूत शैली के अन्तर्गत केवल राजस्थान की चित्रकला को ही स्वीकार किया है, जो और भी भ्रामक है ।[5]

उपर्युक्त तथ्यों के अनुसार राजपूत चित्रकला के अन्तर्गत राजस्थानी शैली के सभी चित्र आ जाते हैं । जो प्रदेश अंग्रेजी शासनकाल में राजपूताना कहा जाता था, वही (थोड़े से हेरफेर से) स्वतंत्रता के बाद राजस्थान कहलाया । अंग्रेजों से पूर्व यह सारा प्रदेश कभी किसी एक नाम से प्रसिद्ध रहा हो, ऐसा कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता । कर्नल टॉड ने ही सर्वप्रथम सारे प्रदेश को 'रायथान' या 'राजस्थान' नाम दिया, किन्तु अंग्रेज अधिकारी साधारणतया इसे 'राजपूताना' नाम से ही अभिहित करते थे । अतः राजस्थानी चित्रकला से हमारा तात्पर्य उस चित्रकला से है, जो इस प्रान्त की अमर धरोहर है और जिसके अनेक नामकरण पर बल देने वाले कलामर्मज्ञों में सर्वश्री रायकृष्णदास, रामगोपाल विजयवर्गीय, डब्ल्यू. जी. आर्चर, डॉ. मोतीचन्द्र, कार्ल खण्डालवाला, कुमार संग्रामसिंह, आनन्दकृष्ण, डॉ. सत्यप्रकाश आदि विद्वानों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।

उद्भव और विकास

राजस्थानी चित्रकला के जन्मस्थल, समय तथा विकास की परिस्थितियों का इतिहास अभी प्रकाश की प्रतीक्षा कर रहा है । विभिन्न विद्वानों ने राजस्थानी चित्रकला की अनेक शैलियों पर पुस्तकें लिखकर 17वीं शती और उसके बाद के इतिहास को प्रकाश में ला दिया है, किन्तु इससे पूर्व का इतिहास अभी भी मतभेदपूर्ण है । चित्रकला मर्मज्ञ डॉ. हरमैन गोएट्ज का कथन है कि, कठिनाई से एकाध वर्ष बीतता है कि राजस्थानी चित्रकला सम्बन्धी नवीन खोज हमारे पूर्वनिणयों को सर्वथा बदल देती है । मुख्यतः मेवाड़ शैली सम्बन्धी नवीन खोजों ने अनेक प्रश्न खड़े कर दिये हैं ।[6]

पाश्चात्य विद्वानों के प्रारम्भिक मतों के आधार पर राजस्थानी चित्रकला मुगल चित्रकला के बाद विभिन्न रियासतों में पलने वाली शैली मानी गई थी । कुछ विद्वानों का तो यह भी कथन है कि वह मुख्यतः जहाँगीरकालीन मुगल शैली की एक शाखा मात्र थी, किन्तु नवीन खोजों के आधार पर आज से वर्षों पूर्व जो निष्कर्ष निर्धारित किये गये थे, वे अमान्य ठहरा दिये गये हैं । डॉ. आनन्द-कुमार स्वामी ने भी जो अपने विचार प्रकट किये हैं, वे ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने पर भी उपयुक्त नहीं हैं ।[7] राजस्थानी चित्रकला की प्राचीनता तथा समृद्धि के परिचायक सूत्र डॉ. हरमैन गोएट्ज ने अनेक खोजपूर्ण तथ्य प्रस्तुत किये हैं, जिनमें उसके इतिहास पर नवीन प्रकाश पड़ता है ।[8] कार्ल खण्डालवाला ने इसके उद्गम और विकास का विस्तार से विवेचन किया है ।[9] सर्वश्री रामकृष्णदास, सत्यप्रकाश, रामागोपाल विजयँवर्गीय, प्रमोदचन्द्र, कु. संग्रामसिंह प्रभृति विद्वानों ने समय-समय पर प्रारंभिक राजस्थानी चित्रकला पर अनेक आलेख प्रकाशित कर इसके स्वरूप को निर्धारित किया है । अनेक विद्वानों ने राजस्थान की विभिन्न शैलियों पर पुस्तकें प्रकाशित कर इसके प्रारूप को स्थापित करने में सहयोग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

दिया है, जिनमें मेवाड़ पर सर्वश्री डॉ. मोतीचन्द्र, श्रीधर अन्धारे, डॉ. आर. के. वशिष्ठ एवं किशनगढ़ पर श्री एरिक डिकिन्सन एवं डॉ. फैयाजअली, बूँदी-कोटा पर सर्वश्री प्रमोदचन्द्र, डब्ल्यू. जी. आर्चर एवं महाराजा ब्रजेन्द्रसिंह कोटा का नाम उल्लेखनीय है। देशभर के विश्वविद्यालयों में राजस्थान की विभिन्न शैलियों, उपशैलियों एवं ठिकाणा कला पर शोध-कार्य हो रहा है, अतः अब राजस्थानी चित्रकला के उद्‌भव और विकास की विस्तृत जानकारी मिलने लगी है।

आज राजस्थान प्रदेश में ही निर्मित अनेक पुरासाक्ष्य उपलब्ध हुए हैं, जिनमें राजस्थानी चित्रकला के उद्‌भव को खोजा जा सकता है। भित्तिचित्र, पोथीचित्र, पटचित्र, काष्ठपट्टिका चित्र, लघुचित्र आदि की इस परम्परा में 1500 ई. के आस-पास जो शैली अपने नये रूप-रंग और भावबोध के साथ प्रस्फुटित हुई, उसके पीछे एक लंबा इतिहास है, जिसका पुरासाक्ष्यों में विवेचन किया जा चुका है तथा इससे आगे की परम्परा मेवाड़ शैली में उपलब्ध है जिसका आगे विवेचन किया गया है।

इन तथ्यों के आधार पर यह बात मान्य है कि तथाकथित 'राजस्थानी चित्रकला' की जन्मभूमि राजस्थान ही है और उसका केन्द्र मेदपाट (मेवाड़) रहा है। "वास्तव में राजस्थानी शैली अपभ्रंश शैली का ही नवीन उत्थान है। दूसरे शब्दों में, 9वीं, 10वीं शती में जो अवनति होती जा रही थी, उसके स्थान पर 15वीं शती में उन्नति का क्रम चल पड़ा। यह पुनरुत्थान गुजरात और दक्षिणी राजस्थान-मेवाड़ में हुआ जान पड़ता है।"[10] मेवाड़ का नाम राजस्थानी चित्रकला के जन्म और विकास के सम्बन्ध में अन्य विद्वानों द्वारा भी लिया जाता रहा है। डॉ. हरमन गोएट्ज का विचार भी इस बारे में मेवाड़ पर ही अधिक केन्द्रित रहा है। दक्षिणी राजस्थान में मेवाड़, बाँसवाड़ा तथा ईडर के पहाड़ी प्रान्तों के वे भाग आते हैं, जो प्राचीनकाल से ही सूर्यवंशी राजाओं के अधीन रहे और गुप्त-साम्राज्य के विघटन के उपरान्त भी भारतीय संस्कृति की मशाल अपने हाथों में लिये रहे, अतः मेवाड़ के जिन सूर्यवंशियों ने अजन्त, एलोरा के शिल्प को तत्परता से मध्ययुग तक निभाया, उन्हें चित्रकला की समान परम्परा के निर्वाह में अक्षम मानना, उनके प्रति अन्याय और हमारी अज्ञता का ही परिचायक होगा। अस्तु राजस्थानी शैली का प्रारम्भ 15वीं शती के उत्तरार्द्ध तथा 16वीं शती के पूर्वार्द्ध के बीच (संभवतः 1500 ई. के आसपास) प्रतिपादित होता है। "राजस्थानी शैली का उद्‌भव अपभ्रंश शैली से गुजरात एवं मेवाड़ में काश्मीर शैली के प्रभाव द्वारा 15वीं शती में हुआ। ऐसे भी कतिपय चित्र प्राप्त हुए हैं जिनमें कहीं भी मुगल प्रभाव नहीं पाया जाता। भारत-कला भवन का बंगाली रागिनी वाला चित्र इन्हीं में से एक है।"[11] रायकृष्णदास का उपर्युक्त कथन आज अधिकृत रूप से मान्य है, क्योंकि जिस समय राजस्थानी चित्रकला का जन्म हो रहा था, उन दिनों भारत में मुगल साम्राज्य के संस्थापक अकबर के पितामह बाबर का जन्म (सन् 1483) हुआ था। गुजरात का सुल्तान महमूद बेगड़ा तथा मेवाड़ का महाराणा कुंभा, दोनों कला-प्रेमी तथा कलाश्रयदाता थे। इस समय जैनुल आबदीन के शासनकाल में काश्मीर में भी चित्रकला उन्नति पर थी, अतः मित्र राज्यों में चित्रकला के क्षेत्र में कोई पारस्परिक आदान-प्रदान हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विशुद्ध राजस्थानी चित्रकला का प्रारम्भ 15वीं शती के उत्तरार्द्ध और 16वीं शती के पूर्वार्द्ध के बीच, 1500 ई. के आस-पास मानना चाहिए। गुजरात और मेवाड़ में जिस समृद्धिशाली राजस्थानी शैली के उदय के कारण भारतीय चित्रकला की प्रसुप्त चेतना उद्‌बुद्ध हुई, वह अपभ्रंश शैली का ही नवीन संस्करण था (श्वेत श्याम चित्र-1)। "भाव-विधान एवं आलेखन की दृष्टि से राजपूत शैली यद्यपि अपने अपूर्व नये परिवेश को लेकर आयी थी, किन्तु विषय-वस्तु के लिए उसने अपनी पूर्ववर्ती अपभ्रंश- शैली का ही आश्रय लिया। रागमाला, शृंगार, ऋतुवर्णन, कृष्ण-लीला आदि से सम्बन्धित जो उत्कृष्ट चित्र राजपूत शैली की देन हैं, उनका स्रोत अपभ्रंश शैली ही है।"[12]

कुछ विद्वानों नें गुजरात शैली को राजस्थानी चित्रकला की जन्मदात्री एवं पोषिका माना है। प्रमोदचन्द्र का कथन है कि "गुजरात कला का प्रमुख केन्द्र रहा है जहाँ से राजस्थानी शैली समृद्ध हुई।"[13] श्री मंजुलाल रणछोड़लाल मजूमदार का कथन है, "गुजराती शैली ने राजपूत शैली को जन्म दिया। पर्वत, नदी, सागर, पृथ्वी, अग्नि, बादल, वृक्ष, लता आदि के आलेखनों की जो दर्शनीयता राजपूत शैली में दृष्टिगोचर होती है, वह गुजरात शैली की ही देन है।"[14] जैनकला के प्रभाव के बारे में अनेक विद्वानों का कथन है कि हिन्दू राजपूत कला के लिए जैन-कला का महत्त्वपूर्ण योग है। भारतीय चित्र-शैलियों में बेल-बूँटों के सन्निवेश की जन्मदात्री जैन-कला ही रही है। बाद में अपनी परम्परा का सारा उत्तराधिकार राजपूत कला को सौंपकर जैन-कला विलुप्त हो गयी। इसके विपरीत डॉ. यजदानी का विचार है कि "जैनकला अपने युग की सर्वोत्तम कला का प्रतिनिधित्व नहीं करती, इसलिए जैन-कला ने राजपूत-कला को अपना सर्वस्व सौंपा होगा, ऐसा मानना भारी भूल होगी।"[15]

अतः राजस्थानी चित्रकला का जन्म राजस्थान के ही प्रान्त में हुआ। अन्य भारतीय शैलियों से प्रभावित होती हुई वह स्वतंत्र रूप से राजस्थान के वीर प्रदेश में पल्लवित हुई। राजस्थानी शैली के विकास में राजस्थान के प्राचीन इतिहास और भौगोलिक रचना का प्रमुख हाथ रहा है। वीर राजपूतों की वीर-भूमि के कण-कण में उनके शौर्य की गाथाएँ, सभ्यता और संस्कृति के पदचिह्न, काव्य, चित्रकला, स्थापत्य आदि के रूप में यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। वास्तविकता तो यह है कि अपने प्राकृतिक निर्माण और मोहक वातावरण के कारण काव्य एवं कला की उद्‌भावना के लिए राजस्थानी धरती अत्यधिक उपयुक्त रही है।

वर्गीकरण

राजस्थानी चित्रकला का उद्‌भव और विकास कई अन्य शैलियों की भाँति न तो एक स्थान पर हुआ और न ही कुछेक कलाकारों द्वारा। राजस्थान के जितने भी प्राचीन नगर, राजधानियाँ, धार्मिक और सांस्कृतिक प्रतिष्ठान हैं, वहाँ चित्रकला पनपी और विकसित हुई। दरबारों, धर्मपीठों, ठिकाणों, राजाओं, सामन्तों, जागीरदारों, महन्तों, श्रेष्ठियों आदि ने जहाँ राजस्थानी चित्रकला को प्रश्रय और प्रोत्साहन दिया, वहीं यहाँ के चित्रकारों और कलाकारों ने उसे उत्कर्ष पर पहुँचाया। इसलिए राजाओं, धर्माचार्यों, दरबारी कवियों, मुसव्विरों, संगीतज्ञों, शिल्पकारों आदि के पारस्परिक आदान-प्रदान से राजस्थानी चित्रकला की अजस्र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

धारा अनेक स्कूलों, अनेक रियासतों, शैलियों, उपशैलियों को परिप्लावित करती हुई 17वीं-18वीं शती में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची, जिससे इसका समन्वित स्वरूप सामने आया। इसके विराट परिवेश में अनेक शाखाएँ और उपशाखाएँ समाविष्ट हो गयीं।

राजस्थानी चित्रकला के वर्गीकरण के बारे में अभी तक विद्वान एकमत नहीं हैं। नई-नई खोज होने के कारण यह कठिनाई और भी बढ़ जाती है। वैसे भी कला को किसी सीमा में बाँधना उचित नहीं है, किन्तु अध्ययन की दृष्टि से कोई न कोई सीमा-रेखा निश्चित करनी ही होती है।

डॉ. मोतीचन्द ने मेवाड़, किशनगढ़ और बूँदी की चित्रकला को विशेष महत्त्व दिया है। हरमैन गोएट्ज, कार्ल खण्डालवाला, रामगोपाल विजयवर्गीय, कु. संग्रामसिंह प्रभृति विद्वानों ने बीकानेर, मारवाड़, कोटा, जयपुर, शेखावाटी जैसी शैलियों और उणियारा, अजमेर, देवगढ़, घाणेराव, सावर जैसी उपशैलियों को वर्गीकरण में और जोड़ दिया है। अलवर शैली की मौलिकता पर सन् 69 में अलवर अंक 16 के माध्यम से हम लोगों ने विस्तार से प्रकाश डाला है।[16] सिरोही, जैसलमेर, अजमेर, नागौर, करौली, झालावाड़ आदि स्थानों की चित्रकला पर भी धीरे-धीरे खोज़बीन होने लगी है।

राजस्थान की चित्रकला के उपर्युक्त विराट परिवेश को भौगोलिक, प्रशासनिक और सांस्कृतिक दृष्टि से चार स्कूलों में विभाजित कर उसका अध्ययन किया जा सकता है, जिनमें अनेक शैलियाँ, उपशैलियाँ, ठिकाणा-कला सहज ही समाहित हो जाती हैं। बहुत से अध्यापक एवं शोधार्थी छोटी-छोटी शैलियों एवं उपशैलियों को भी स्कूल के नाम से संबोधित करते हैं, जो बहुत ही भ्रामक है। स्कूल कहने के पीछे एक वृहद् राजनैतिक, सांस्कृतिक और जातीय परम्परा को अनदेखा नहीं करना चाहिए।

वास्तव में तो राजस्थानी चित्रकला के निम्नांकित चार स्कूल हैं,[17] जिनमें अनेक शैलियाँ, उपशैलियाँ पनपी और विकसित हुई हैं तथा एक-दूसरी से प्रभावित होती रही हैं यथा--1. मेवाड़ स्कूल, 2. मारवाड़ स्कूल, 3. हाड़ौती स्कूल और 4. ढूँढाड़ स्कूल। इन चार स्कूलों की भौगोलिक संरचना और राजपूत राजवंशों की सांस्कृतिक परम्परा ने जो विशिष्टताएँ प्रदान की हैं, वे चित्रकला में सहज ही झलकती हैं। इनसे संबंधित शैलियों-उपशैलियों का विभाजन भी निम्नलिखित प्रकार से किया जा सकता है--

1. मेवाड़ स्कूल--चावंड शैली; उदयपुर शैली, नाथद्वारा शैली, देवगढ़ उपशैली, सावर उपशैली, शाहपुरा उपशैली तथा बनेड़ा, बागौर, बेगूँ, केलवा आदि ठिकाणों की कला।
2. मारवाड़ स्कूल--जोधपुर शैली, बीकानेर शैली, किशनगढ़ शैली, अजमेर शैली, नागौर शैली, सिरोही शैली, जैसलमेर शैली तथा घाणेराव, रियाँ, भिणाय, जूनियाँ आदि ठिकाणा कला।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

3. हाड़ौती स्कूल–बूँदी शैली, कोटा शैली, झालावाड़ उपशैली।
4. ढूँढाड़ स्कूल–आम्बेर शैली, जयपुर शैली, शेखावाटी शैली, अलवर शैली, उणियारा उपशैली तथा झिलाय, ईसरदा, सामोद, शाहपुरा आदि ठिकाणा कला।

सिरोही, जैसलमेर, करौली, भरतपुर आदि रियासतों में क्रमशः देवड़ा, भाटी, जादू और जाट राजघरानों का राज्य रहा; अतः वहाँ की कला का भी अब विस्तार से अध्ययन होने लगा है।

सन्दर्भ

1. देखिये– आनन्द कुमार स्वामी : राजपूत पेंटिंग, पृ. 2, 3
2. वही, पृ. 3, 4
3. रायकृष्णदास : भारत की चित्रकला, पृ. 59
4. बेसिलग्रे : राजपूत पेंटिंग, पृ. 2
5. देखिये, वाचस्पति गैरोला : भारतीय चित्रकला, पृ. 153
6. डॉ. हरमैन गोएट्ज : मेवाड़, मार्ग 11/2, पृ. 38
7. देखिये, आनन्द कुमार स्वामी : राजपूत पेंटिंग, पृ. 1-10
8. डॉ. हरमैन गोएट्ज : इण्डिया आर्ट एण्ड लैटर्स, अंक- 1
9. मार्ग-4/3, लीवज फ्रॉम राजस्थान, मार्ग 11/2 दि ऑरिजिन एण्ड डवलपमेण्ट ऑफ राजस्थानी पेंटिंग,
10. रायकृष्णदास : भारत की चित्रकला, पृ. 58
11. वही, पृ. 58-59
12. वाचस्पति गैरोला : भारतीय चित्रकला, पृ. 136
13. मार्ग 11/2, एन आउटलाइन ऑफ अर्ली राजस्थानी पेंटिंग
14. एम. आर. मजूमदार : दि गुजराती स्कूल ऑफ पेंटिंग, जनरल ऑफ दी इण्ड़ियन सोसायटी ऑफ ऑरियन्टल आर्ट, पार्ट-10
15. डॉ. जी. यजदानी : एनुवल रिपोर्ट ऑफ आर्कियोलोजिकल डिपार्टमेंट ऑफ हिज हाईनेस दि निजाम, 1930, पृ. 48
16. देखिये, डॉ. जयसिंह नीरज : विनय : अलवर-अंक-1969
17. डॉ. जयसिंह नीरज : स्प्लेण्डर ऑफ राजस्थानी पेंटिंग, पृ. 12।

❑

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

4

मेवाड़ स्कूल

राजस्थानी चित्रकला : उद्‌भव और विकास नामक अध्याय में यह स्पष्ट हो चुका है कि राजस्थानी चित्रकला का क्रमिक विकास गुहिलवंशीय राजाओं की स्थली मेदपाट में हुआ। अरावली की शृंखलाओं में मेव अथवा मेर जाति की निवास-स्थली होने के कारण इस भूभाग का नाम मेदपाट या मेवाड़ पड़ा। राजस्थान के दक्षिणी भाग में अवस्थित यह भूभाग मालवा और गुजरात से लगा होने तथा अपने प्राकृतिक परिवेश के कारण प्राचीन समय से ही सामरिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहा है।

इतिहासकार ओझाजी ने उदयपुर राज्य के इतिहास में गुहिल राजा का समय छठी शताब्दी उत्तरार्द्ध में अंकित किया है,[1] इसलिए पूर्व-मध्य काल में सातवीं शती से गुहिल राजवंश के उदय के साथ कला और संस्कृति में भी यहाँ समय-समय पर जो उत्थान हुआ वह तक्षण-कला और स्थापत्य में सहज ही द्रष्टव्य है। बौद्ध-धर्म के पतन एवं शैव-धर्म के उत्थान के कारण गुहिल वंश के आराध्य एकलिंगजी रहे, अतः इस प्रदेश में शैव मंदिरों के साथ-साथ सूर्य, विष्णु, देवी एवं जैन तीर्थंकरों के मंदिर और मूर्तियाँ विस्तार से बनीं। तक्षण-कला एवं पोथी-चित्रण की परम्परा में राजस्थानी चित्रकला का जो स्वरूप उभर कर आया, उसकी कलास्थली मेदपाट ही रहा। आहड़, नागदा, देलवाड़ा, चित्तौड़, चावंड, कुम्भलगढ़, उदयपुर, नाथद्वारा आदि कला के तीर्थस्थल रहे, जिन्होंने पूरे राजस्थान और पश्चिमी भारत को समय-समय पर प्रभावित किया।

यही कारण है कि राजस्थानी चित्रकला में ऐतिहासिक परम्परा की दृष्टि से मेवाड़ स्कूल का सर्वोपरि स्थान है। गुहिलवंशीय राजाओं की स्थली मेदपाट की कलात्मक धरोहर भारत के अन्य कला स्कूलों के लिए भी प्रेरणा-स्रोत रही। वल्लभीपुर के गुहिलवंशीय राजाओं के साथ कुछ कलाकार मेवाड़ प्रदेश में आये और उन्होंने अजन्ता एलौरा की कला-परम्परा का सफलतापूर्वक वहन किया।[2]

आगे चलकर यह परम्परा समय-समय पर अनेक शैलियों, उपशैलियों एवं ठिकाणा कला में प्रसार पाती रही, जिसके समन्वित स्वरूप को मेवाड़ स्कूल का नाम दिया जाता है। प्रारम्भिक राजस्थानी शैली अर्थात् अपभ्रंश शैली, चावंड-शैली, उदयपुर शैली, नाथद्वारा शैली, देवगढ़, देसूरी, प्रतापगढ़, सावर, शाहपुरा आदि उपशैलियों एवं गोगुन्दा, बनेड़ा, बागौर, जैसे ठिकाणों की कला से मेवाड़ स्कूल का स्वरूप निर्धारित किया जा सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मेवाड़ स्कूल का इतिहास

मेवाड़ी चित्रकला का इतिहास आज भी पहेली बना हुआ है। कुछ स्थापनाएँ तय होती हैं कि फिर से नयी-नयी खोज कलामर्मज्ञों को सोचने के लिए बाध्य कर देती हैं, परन्तु यह निश्चित है कि मेवाड़ का इतिहास वीरता, स्वतंत्रता की रक्षा तथा कलाओं के संरक्षण के लिए प्रसिद्ध रहा है। राजा गुहिल से लेकर आज तक मेवाड़ के राजाओं का इतिहास सूर्यवंशी पराक्रमी राजाओं की वीरगाथा से ओतप्रोत है, जिनमें गुहिल [(छठी शताब्दी अंतिम, अल्लट 951-953 ई.)], तेजसिंह (1260-1267 ई.), मोकल (1421-1433 ई.), कुम्भा (1433-1468 ई.), संग्रामसिंह साँगा (1509-1527 ई.), महाराणा प्रताप (1572-1597 ई.), जगतसिंह प्रथम (1628-1652 ई.), राजसिंह (1652-1680 ई.) आदि के नाम वीरता, स्वतंत्रता की रक्षा, विद्वता, कला-संरक्षण आदि के लिए किसी न किसी प्रसंग में समय-समय पर याद किये जाते रहे हैं।

राजस्थानी चित्रकला का उद्भव 1500 ई. के आसपास माना जाता है, जो प्रारम्भ में मेवाड़ स्कूल के नाम से सर्वविदित था। प्राचीन समय से जैन-गुजरात शैली तथा अपभ्रंश शैली राजस्थानी चित्रकला के प्रारंभिक मेवाड़ स्कूल का जिस प्रकार स्वरूप निर्धारित्त किया उसका पूर्व विवेचन हो चुका है, अतः 1500 ई. के उपरान्त से मेवाड़ में जो कला का विकास हुआ, उसके आधार पर मेवाड़ स्कूल का निर्धारण किया जाना चाहिए।

महाराणा कुंभा का काल (1433-1468 ई.) कलाओं के उत्थान के लिए स्वर्णिम युग माना जाता है। उनके राज्य में मण्डन जैसे सूत्रधार थें, जिन्होंने स्थापत्य एवं तक्षण-कला को उत्कृष्ट स्थान पर पहुँचा दिया।[3] स्वयं महाराणा कुंभा विद्वान थे। उन्होंने संगीतराज नामक ग्रंथ लिखा एवं संगीत रत्नाकर और गीतगोविन्द की टीका लिखी। यह बात निश्चित है कि राग-रागिनियों का स्वरूप महाराणा कुंभा से पूर्व निर्धारित्त हो चुका था, किन्तु रागों के मूर्तिकरण में उनके संगीतराज ग्रंथ का योगदान विशेष उल्लेखनीय है। अन्य कलाओं के उत्थान के साथ चित्रकला का विकास इस समय न हुआ हो यह माना नहीं जा सकता, किन्तु बिना साक्ष्य के कुछ कह पाना कठिन है। इनके समय का पं. भीखमचन्द द्वारा अंकित सचित्र ग्रंथ रसिकाष्टक सं. 1492 का अवश्य मिलता है।[4] इस ग्रंथ में विभिन्न ऋतुओं तथा पशु-पक्षियों के छः उत्तम चित्र उपलब्ध हुए हैं जो कुम्भा-कालीन चित्रकला की पुष्टि करते हैं। महाराणा कुंभा के दुर्ग (कुंभलगढ़) में तथा चित्तौड़ के कुंभा महल में कुछ अस्पष्ट रेखांकन तत्कालीन चित्रकला के परिचायक हैं। संभवतः 15वीं-16वीं शती के चित्रों की परम्परा चित्तौड़ के कला-भण्डारों में ही भस्म हो गयी हो।

कृष्ण-चरित्र एवं मेवाड़ी चित्रकला

मध्यकाल में शैव-धर्म के उपरान्त वैष्णव-धर्म का उत्थान प्रसार पाने लगा। 13वीं शती से अपनी माधुर्य भावना के कारण कृष्णभक्ति आन्दोलन का सर्वोपरि स्थान रहा है, जिससे मेवाड़ प्रदेश भी अछूता नहीं रहा। यहाँ श्रीमद्भागवत एवं 12वीं शती में जयदेव कवि द्वारा रचित गीतगोविन्द ने सचित्र ग्रंथों की परम्परा को नवीन मोड़ दिया।[5] राधा-कृष्ण की अलौकिक एवं मनोहारी शृंगारी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लीलाओं ने कलाओं के क्षेत्र में जैन एवं गुजरात शैली की जकड़न को समाप्त कर अधिक गत्यात्मक एवं रंगीन तथा ऐन्द्रियक बना दिया, जिससे मेवाड़ स्कूल को एक नयी दृष्टि मिली।

गीतगोविन्द की एक प्राचीन सचित्र लिपि 'गीतगोविन्द आख्यायिका' उपलब्ध हुई है, जिसका चित्रांकन गोगून्दा में सन् 1445 के आसपास हुआ।[6] दूसरी जावर में निर्मित लगभग 1545 ई. की 'गीत-गोविन्दसार' भी ऐतिसासिक दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। गीतगोविन्द की सर्वाधिक चर्चित और प्रसिद्ध सचित्र प्रति प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम, बंबई में सुरक्षित है, जो प्रारम्भिक राजस्थानी (1570 ई. के आसपास) अर्थात् मेवाड़ स्कूल की महत्त्वपूर्ण थाती है।[7] इसके बाद से तो गीतगोविन्द के चित्रण की परम्परा ही चल पड़ी, जो संपूर्ण राजस्थान की शैलियों एवं उपशैलियों में उपलब्ध होती हैं। कृष्ण-चरित्र से संबंधित श्रीमद्भागवत की दो सचित्र प्रतियाँ भी शायद राजस्थान में ही कहीं रची गयी, जिनमें मेवाड़ स्कूल का विकसित स्वरूप अपनी विशेषताओं में आविर्भूत हुआ है। इनमें से प्रथम सन् 1598 की पोथीखाना, जयपुर और दूसरी सन् 1610 ई. की पुस्तक प्रकाश, जोधपुर में बताई जाती है।[8]

इस प्रकार 15वीं शती मध्य से लेकर बाद तक कृष्ण-चरित्र संबंधी इन ग्रंथों ने मेवाड़ स्कूल की परम्परा को अत्यधिक संमृद्ध बनाया। कृष्ण-चरित्र को मेवाड़ में प्रसारित करने में मीराबाई का योगदान भी कम नहीं है।

चौरपंचाशिका समूह-चित्र एवं मेवाड़ स्कूल

चौर-पंचाशिका या विल्हण पंचाशिका के पचास छंद 12वीं शती में काश्मीर के प्रसिद्ध कवि विल्हण द्वारा चंपावती के प्रेम में रचे गये, जो संस्कृत काव्य की ही नहीं वरन् चित्रकला के इतिहास की भी महत्त्वपूर्ण थाती हैं। इस समूह के 18 चित्र स्वर्गीय एन. सी. मेहता की गैलेरी, गुजरात सोसाइटी म्यूजियम, अहमदाबाद में सुरक्षित हैं, जिन्होंने राजस्थानी चित्रकला के नवीन मोड़ को समझने में सहयोग दिया है।[9] अपभ्रंश काल के बाद इन चित्रों में रंगों की चटक, स्थापत्य की बनावट, प्रकृति की अनोखी खिलावट के साथ ही विल्हण एवं चंपावती के चित्रण में सशक्त रेखांकन, भावों की गत्यात्मकता, चमकदार जामा, पायजामा, अटपटी कुल्हेदार पगड़ी, कमरबंद एवं कंचुकी, ओढ़नी, मोचड़ी आदि वेशभूषा में अनेक संस्कृतियों का मेल-मिलाप सहज ही झलकता है। अफगानी, हिन्दू एवं मुगल प्रभाव के इन चित्रों ने मेवाड़ स्कूल को एक नयी दिशा दी। वास्तव में तो 16वीं शती मध्य में बने इस प्रकार के ये चित्र राजस्थान के ही मेदपाट क्षेत्र में बने हों तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि उसके बाद की मेवाड़ी परम्परा में चौरपंचाशिका और कुलहदार समूह का प्रभाव भागवत, गीतगोविन्द, रागरागिनी तथा अन्य चित्रों में विस्तार से देखने को मिलता है।

मेवाड़ स्कूल का उत्कर्ष

17वीं शती प्रारम्भ से तो मेवाड़ स्कूल का विकास सहज ही समझ में आने लगता है, जो 17वीं शती मध्य में अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच गया, जिसे उदयपुर शैली के नाम से भी जाना जाता है। राजस्थान में ढोलामारु की

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

लोक-कथा अत्यधिक प्रचलित रही है, इसलिए आहड़ में सन् 1592 में लिखित एवं 104 चित्रों से सुसज्जित 'ढोला-मारू री चौपाई' (श्वेत श्याम चित्र-2) मेवाड़ स्कूल का एक महत्त्वपूर्ण तिथियुक्त सचित्र ग्रंथ है, जो राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली में सुरक्षित है।

मेवाड़ स्कूल में सर्वाधिक चर्चित नसीरदीन द्वारा चावंड में चित्रित रागमाला का सैट चित्रकला के इतिहास में दीप-स्तम्भ की तरह है। महाराणा प्रताप के समय (1772-1597 ई.) चावंड मेवाड़ की राजधानी होने के कारण कला का केन्द्र रही, जिसे चावंड़ शैली के नाम से जाना जाता है। महाराणा अमरसिंह के समय में 1605 ई. में चित्रित इस रागमाला के अनेक चित्र यत्र-तत्र उपलब्ध हैं, जिनमें सर्वाधिक श्री गोपीकृष्ण कानोड़िया के निजी संग्रह में उपलब्ध हैं जिनमें मारू रागिनी तिथियुक्त 1605 ई. का महत्त्वपूर्ण लघुचित्र है।[10] चौरपंचाशिका समूह-चित्रों का इस सैट में पूर्ण प्रभाव देखा जा सकता है।

17वीं शती प्रारम्भ में रीतिकालीन आचार्य एवं कवि केशव की रसिकप्रिया (श्वेत श्याम चित्र-1) नायक-नायिका भेद का लक्षण ग्रंथ होने के कारण चित्रण का आधार-ग्रंथ बनने लगी थी। मेवाड़ स्कूल बुंदेलखण्ड के पास होने के कारण इससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली (लगभग 1615-20 ई.) एवं बोस्टन संग्रहालय, अमेरिका (लगभग 1630 ई.) की सचित्र रसिकप्रिया में मेवाड़ी शारीरिक बनावट, वेशभूषा एवं प्रकृति-परिवेश सहज ही द्रष्टव्य है। इसके बाद तो रसिकप्रिया (रंगीन चित्र-1) की परम्परा भागवत और गीतगोविन्द की तरह मेवाड़ स्कूल में समय-समय पर चित्रित की गयी।

महाराणा प्रताप के बाद मेवाड़ मुगल संबंध स्थापित होने लगे। महाराणाओं को जहाँगीर सम्मान देने लगा, इसलिए राजपूत एवं मुगल संस्कृति के समन्वय से मेवाड़ की चित्रकला में एक नवीन मोड़ आया, जो उदयपुर शैली के चित्रों में सहज ही परखा जा सकता है। मुस्लिम कलाकारों के योगदान को नकारा नहीं जा सकता। चित्रकार साहिबदीन का इस दृष्टि से उत्कृष्ट योगदान है।

महाराणा जगतसिंह प्रथम का समय (1628 ई.-1652 ई.) मेवाड़ स्कूल के उत्कर्ष में स्वर्णिम युग माना जा सकता है। वे स्वयं साहित्य एवं कलाकार-प्रेमी राजा थे, इसलिए उन्होंने राजमहलों में 'चितारों की ओवरी' नाम से कला विद्यालय राज्य में प्रतिष्ठित किया। यह एक ऐसा स्थान था जहाँ कई चित्रकार एक स्थान पर एकत्रित होकर रंगों की पिसाई, वस्लियों की घोटाई, रेखांकन एवं चित्रांकन में एक-दूसरे का सहयोग देते थे। इस विद्यालय को 'तस्वीरां रो कारखानो' नाम से भी पुकारा जाता था तथा प्रमुख चित्रकार दारोगा की उपाधि से विभूषित था।

यही कारण है कि महाराणा जगतसिंह के समय (सन् 1628-1652) में काव्य को आधार बनाकर अनेक सचित्र ग्रंथों का व्यवस्थित रूप से लेखन एवं चित्रांकन हुआ। राम-काव्य, कृष्ण-काव्य, रीति-काव्य, रागरागिनी, बारहमासा आदि चित्रण के विशेष आधार रहे।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

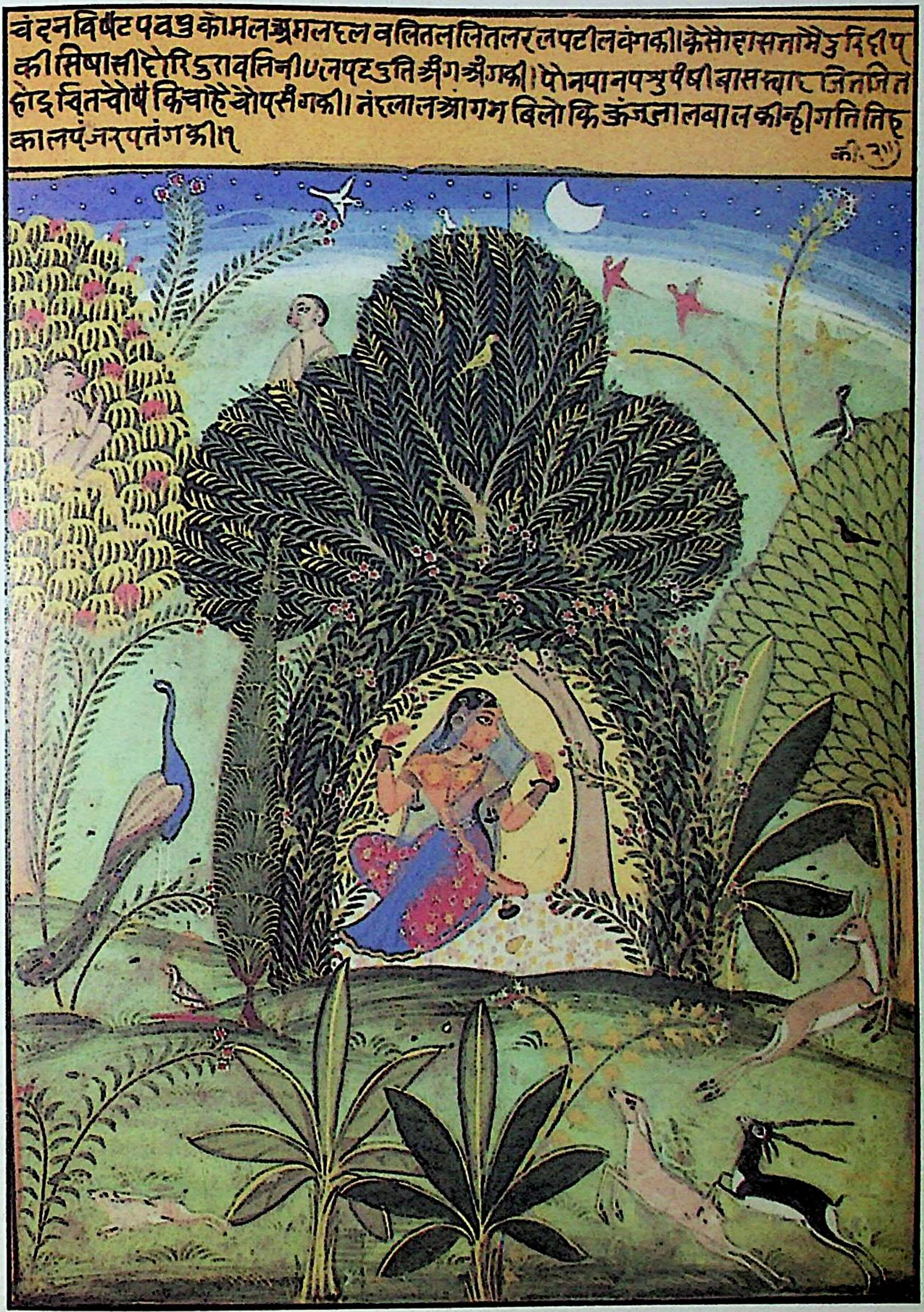

चित्र 1 : वासक-सज्जा-नायिका (रसिकप्रिया-केशव) : उदयपुर शैली, लगभग सन् 1640

(राजकीय संग्रहालय, उदयपुर)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

चित्र 2 : भैरवी रागिनी : उदयपुर शैली, सन् 1660
(कुंवर संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर)

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

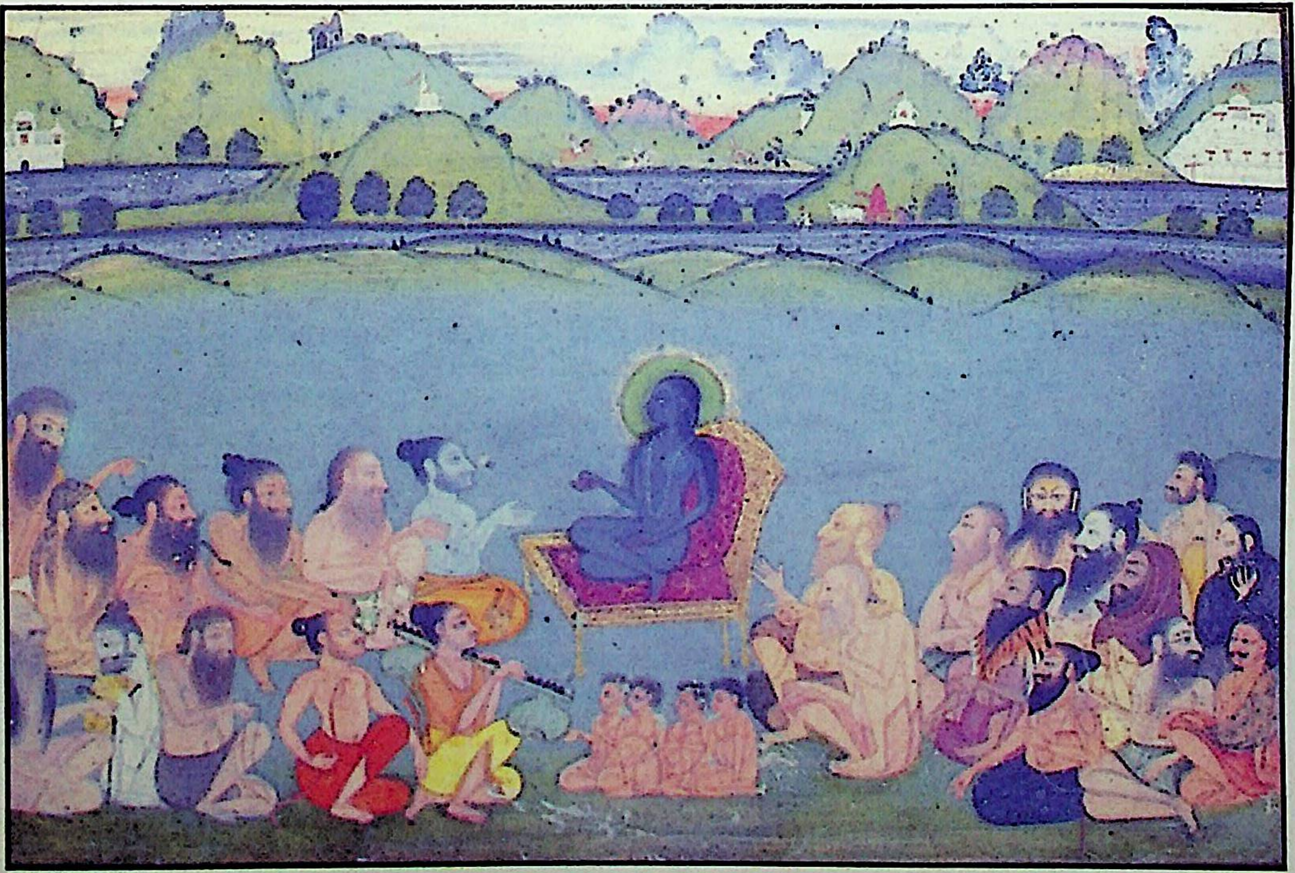

चित्र 3 : सुखदेवजी भागवत बाँचते हुए : देवगढ़ शैली, सन् 1800
(कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

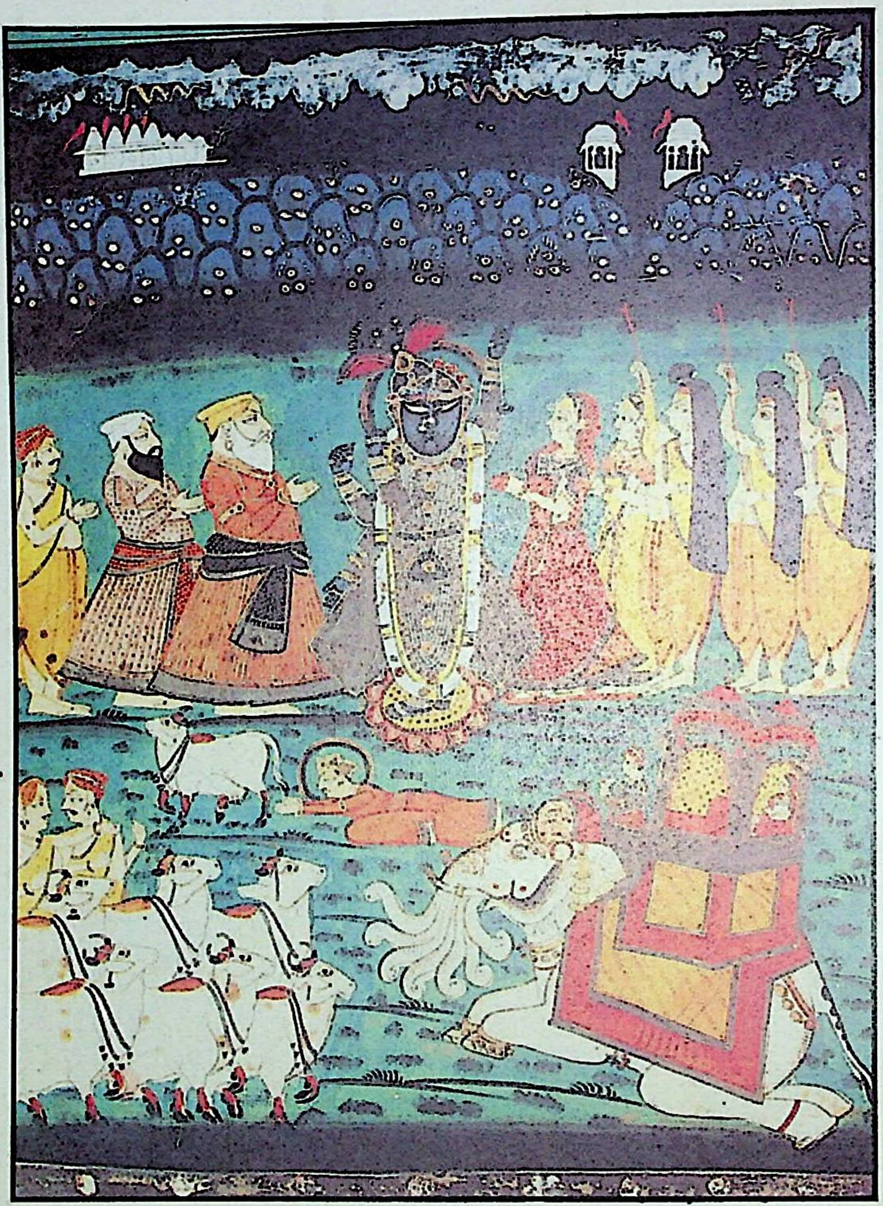

चित्र 4 : गोवर्धन-धारण : नाथद्वारा शैली, 18वीं शती अन्तिम
(आर्ट गैलरी ऑफ दि इन्टरनेशनल सोफिया)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

साहिबदीन और मनोहर जैसे मँजे हुए कलाकारों की चित्रकारी इस समय की उत्कृष्ट एवं तिथियुक्त दाय है। सन् 1628 ई. में चित्रित रागमाला के अनेक चित्र भारत के संग्रहालयों में बिखरे पड़े हैं, जिनमें साहिबदीन की जहाँगीर-कालीन शैली का अन्यतम उदाहरण देखने को मिलता है।[11] इसी प्रकार 1630 ई. का गीतगोविन्द (महाराणा जोधपुर के संग्रहालय) और रसिकप्रिया (राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली) भी साहिबदीन की महत्त्वपूर्ण दाय हैं।

सूरसागर, रसिकप्रिया, (रंगीन चित्र-1) कुमारसंभव, कविप्रिया आदि का चित्रण भी इस समय में विस्तार से हुआ जो राजकीय संग्रहालय, उदयपुर, कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर, जगदीश प्रसाद गोयनका, गोपीकृष्ण कानोड़िया, कलकत्ता आदि के संग्रह में उपलब्ध होता है। साहिबदीन द्वारा चित्रित 'भागवतपुराण' के चार उपलब्ध स्कन्ध[12] (8,9,11,12) कला की दृष्टि से बेजोड़ हैं जिनका चित्रांकन 1648 ई. में हुआ। उसके 234 पन्नों में 129 सुन्दर चित्र हैं जिनमें पीले, लाल, हरे और नीले रंगों का विशेष प्रयोग हुआ है। भागवत के अन्य संचित्र ग्रंथ महाराजा जोधपुर और कोटा के सरस्वती भण्डार में तथा कुछ पन्ने राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली में उपलब्ध हैं। राजकीय संग्रहालय, कोटा के 40 लघुचित्र कला की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं (श्वेत-श्याम चित्र-3) जिनमें कृष्णलीला का चित्रांकन जहाँगीरी प्रभाव का अन्यतम उदाहरण है।

कृष्णचरित्र की ही भाँति रामचरित्र का चित्रांकन भी महाराणा जगतसिंह के समय की कलात्मक धरोहर है। आर्ष रामायण को आधार बनाकर 1649 ई. से लेकर 1653 ई. तक साहिबदीन तथा उसके सहयोगी मनोहर ने अनेक काण्डों का चित्रांकन किया, जिनमें राजपूती कला एवं संस्कृति का दुर्लभ अंकन है। मनोहर द्वारा चित्रित बालकाण्ड तथा अयोध्याकाण्ड प्रिन्स ऑफ वेल्स म्यूजियम, बम्बई एवं बालकाण्ड, युद्धकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, उत्तरकाण्ड आदि साहिबदीन द्वारा रचित ब्रिटिश म्यूजियम, लंदन में उपलब्ध हैं। अरण्यकाण्ड की सन् 1651 ई. में चित्रित प्रति प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, उदयपुर की अमर धरोहर है। इन ग्रन्थों के आधार पर मेवाड़ स्कूल की बदलती धारा उदयपुर शैली के उत्कर्ष के रूप में सहज ही पहचानी जा सकती है।

महाराणा जगतसिंह के समान ही उनके उत्तराधिकारी महाराणा राजसिंह का काल (1652-1680 ई.) कलाओं के प्रश्रय एवं मंदिर और मूर्तियों के संरक्षण की दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं रहा। साहिबदीन जैसे कलाकारों ने शूकर क्षेत्र महात्म्य (1655 ई.), भ्रमरगीतसार (1659 ई. श्वेत-श्याम चित्र-4) का सुघड़ चित्रांकन किया। गीतगोविन्द के चित्रांकन की परम्परा भी आगे तक अक्षुण्ण रही। राजकीय संग्रहालय, उदयपुर में गीतगोविन्द के आधार पर 224 लघुचित्र मिलते हैं, जिनमें से लगभग तीन दर्जन चित्र इसी समय के मिलते हैं। शेष चित्र बाद में बने।

नाथद्वारा में श्रीनाथजी के स्वरूप की स्थापना महाराणा राजसिंह के समय में होने के कारण पुष्टि-संप्रदाय का, ब्रज की चित्रकला का तथा कृष्णचरित्र का प्रभाव तत्कालीन चित्रकला में भाव एवं कला तकनीक की दृष्टि से बहुलता से द्रष्टव्य है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राजसिंह के उत्तराधिकारी महाराणा जयसिंह (1680-1698) ने भी मेवाड़ी चित्रांकन परम्परा को नवीन उत्साह के साथ आगे बढ़ाया। राजकीय संग्रहालय, उदयपुर में सूरसागर के 122 महत्त्वपूर्ण लघुचित्र इनके समय की ही दाय हैं, जिनमें सूर के पद को आधार बनाकर चित्रांकन को भावपूर्ण बनाया है, साथ ही सूरदासजी को विभिन्न मुद्राओं में मंजीरा लिए, कीर्तन करते या हाथ जोड़े हुए अंकित किया गया है।[13] अन्य धार्मिक ग्रन्थों में रामायण तथा महाभारत का अंकन भी इनके समय में विस्तार से हुआ।

महाराणा संग्रामसिंह के ही राज्यकाल में सन् 1723 ई. में चीताखेड़ी गाँव में चित्रित गीतगोविन्द एवं कविप्रिया के सैट चित्रित हुए जो प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान की अनुपम देन हैं।[14] 18वीं शती मध्य में चित्रित गोवर्धन-धारण प्रसंग के लगभग एक दर्जन चित्र बड़ौदा म्यूजियम में उपलब्ध हैं, जिनमें पत्रों के चारों ओर पद लिखे हैं तथा बीच में पदों के भाव के आधार पर चित्र बने हैं।[15]

18वीं शती मध्य से मेवाड़ स्कूल की उदयपुर शैली में राजसी वैभव के चित्र अधिक बनने लगे जिनमें राजा-रानियों की पोट्रेट तथा दरबारी जीवन के समूह-चित्रों का निर्माण विस्तार से हुआ। महाराणाओं के निजी जीवन और दरबारी वैभव का यह चित्रांकन तत्कालीन समय को प्रदर्शित करता है। महाराणा रणवास में अटखड़ खेलते हुए, शेर का शिकार करते हुए, गणगौर की सवारी, दशहरा दरबार, मनोविनोद, होली खेलते हुए, घोड़ों का प्रशिक्षण, हाथियों की सवारी आदि चित्रण इस कथ्य का साक्षी है। इस समय के चितारों में जीवा, अमरा, नंगा, शिवदयाल, शाहजी मियाँ, रघुनाथ, शिवा, भोपा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

ग्रंथ-चित्रण और लघु-चित्रण के साथ ही मेवाड़ स्कूल में भित्ति-चित्रण की परम्परा भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं रही, किन्तु समय के थपेड़ों के कारण प्राचीन भित्ति-चित्रण प्रायः अनुपलब्ध हैं। उदयपुर के राजमहलों में भित्ति-चित्रण की यह परम्परा जनानी ड्योढ़ी तथा कृष्णविलास में बड़े-बड़े पैनल में देखी जा सकती है। नगर-श्रेष्ठों की हवेलियों एवं मंदिरों और छतरियों में भी भित्ति-चित्रण विस्तार से परिपोषित हुआ।

उपर्युक्त लघु-चित्रों एवं भित्ति-चित्रों ने मेवाड़ की चित्रांकन परम्परा को विस्तार अवश्य दिया, किन्तु मेवाड़ स्कूल का वह लालित्य रेखाओं की सधावट, रंगों का संयोजन, स्थापत्य, वेशभूषा और प्रकृति-चित्रण का सहज आकर्षण धीरे-धीरे समाप्त होने लगा और 18वीं शती अंत में मेवाड़ स्कूल का अपकर्ष स्पष्टतः झलकने लगा। मेवाड़ के अन्य स्थानों में पनपने वाली चित्रण-शैली जैसे नाथद्वारा, देवगढ़, शाहपुरा, सावर तथा महत्त्वपूर्ण ठिकाणों की कला में उसका अंतिम उंजास देखा जा सकता है।

यह निश्चिय रूप से कहा जा सकता है कि मेवाड़ राजनैतिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक दृष्टि से अग्रणी रहा है, अतः मेवाड़ी कला का प्रभाव राजस्थान के विभिन्न स्कूलों, शैलियों, उपशैलियों और ठिकाणा कलम पर ही नहीं वरन् देश की अन्य कलमों पर भी पड़ा है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मेवाड़ की अन्य शैली, उपशैली तथा ठिकाणा कला

राजस्थान के धार्मिक पीठों एवं महत्त्वपूर्ण ठिकाणों में भी कला का प्रसार हुआ। देशी रियासतों के प्रशासनिक ढाँचे में प्रमुख भाई-बन्धुओं एवं संबंधियों को समय-समय पर बड़ी-बड़ी जागीरें दी गयी, जिसके फलस्वरूप प्रमुख ठिकाणों का आविर्भाव हुआ। केन्द्र की ही भाँति इन ठिकाणों में भी अपनी-अपनी औकात के अनुसार गुणीजनों का ज़मघट रहने लगा, जिसके कारण अन्य कलाओं के साथ चित्रकला का भी यहाँ विकास हुआ। इस दृष्टि से मेवाड़ में देवगढ़, शाहपुरा, सावर आदि का प्रमुख स्थान है, जहाँ अपनी पैतृक सांस्कृतिक परम्परा के अतिरिक्त वहाँ के प्राकृतिक परिवेश और आसपास की शैलियों से प्रभावित होते हुए चित्रकला विकसित हुई, जिन्हें मेवाड़ की शैली या उपशैली और ठिकाणा कला के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

धर्म तथा मंदिरों और स्वरूपों को मेवाड़ में सदा से ही प्रश्रय मिला; अतः ऐसे धार्मिक स्थलों पर सगुण भक्ति के अन्तर्गत कलाओं को प्रश्रय मिला, जिनमें नाथद्वारा, कौंकरोली आदि जगत प्रसिद्ध स्थल हैं। भक्ति, कला और संस्कृति का यहाँ जो संगम हुआ, उससे नवीन कला-शैली का जन्म हुआ जो नाथद्वारा शैली के नाम से प्रसिद्ध है।

नाथद्वारा शैली

मेवाड़ स्कूल की प्रमुख शैलियों में नाथद्वारा शैली का नाम जगत-विख्यात है। इस शैली का उद्भव और विकास नाथद्वारा में श्रीनाथजी के स्वरूप की स्थापना (10 फरवरी, 1672 ई.) के बाद से आँका जाना चाहिए।

यों तो मेवाड़ में पुष्टि-संप्रदाय को प्रश्रय महाराणा जगतसिंह (1628-1652 ई.) के राज्यकाल से ही मिल गया था। उन्होंने गोकुल में गोस्वामी गिरधारीलाल से सत्संग किया तथा उन्हें आसोटिया ग्राम भेंट में देकर संप्रदाय का सम्मान किया,[16] किन्तु मेवाड़ में पुष्टि-संप्रदाय का प्रत्यक्ष प्रभाव नाथद्वारा में श्रीनाथजी के स्वरूप की स्थापना से ही मानना चाहिए।

अकबर की उदार नीति के विपरीत सिंहासनारूढ होने के कुछ वर्ष उपरान्त से ही औरंगजेब अपनी अनुदार नीति बरतने लगा। सन् 1669 की एक सर्व-व्यापी आज्ञा द्वारा उसने इस्लामेत्तर अन्य धर्मावलम्बियों के सारे मंदिर, पूजाघरों और पाठशालाओं को ध्वस्त कर देने तथा धर्मग्रंथों के पठन-पाठन और धार्मिक कृत्यों के सार्वजनिक रूप से किये जाने को पूर्णतया दबा देने का आदेश दिया।[17] मंदिरों की इस तोड़फोड़ की आज्ञा से समाज में तहलका मच गया। ब्रजप्रदेश के कुछ मंदिरों के पुजारियों तथा उनके भक्तों ने उन विशाल भव्य मंदिरों का मोह छोड़ दिया और वहाँ की पूज्य मूर्तियों को बचाने का वे आयोजन करने लगे। गोवर्धन पर्वत पर स्थित वल्लभ संप्रदाय वालों के प्रमुख मंदिर के श्रीनाथजी के विग्रह को लेकर वहाँ के गोस्वामी श्री दामोदरजी तथा उनके चाचा गोविन्दजी 30 सितम्बर, 1669 को गोवर्धन से निकल पड़े।[18] वे छिपते-छिपाते कोटा, बूँदी, किशनगढ़, पुष्कर तथा जोधपुर भी गये, पर औरंगजेब के भय से उस मूर्ति को अपने राज्य में स्थापित कराना किसी ने स्वीकार नहीं किया। अंत में महाराणा राजसिंह ने श्रीनाथजी की इस मूर्ति का मेवाड़ में सहर्ष स्वागत किया और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

10 फरवरी, 1672 ई. के दिन सीहाड़ गाँव में भव्य समारोह के साथ इस मूर्ति की स्थापना की गयी, जो तब से ही नाथद्वारा कहलाने लगा। इसी प्रकार गोवर्धन वाले द्वारकाधीशजी की मूर्ति की भी काँकरोली में प्रतिष्ठा की गयी।

इस प्रकार शुद्धाद्वैत सम्प्रदाय के आचार्य तथा वैष्णव-भक्तों के परम आराध्य स्वरूप श्रीनाथजी ब्रजमण्डल की सांस्कृतिक परम्परा के साथ नाथद्वारा में स्थापित हो गये, जिसके फलस्वरूप मेवाड़ वैष्णवधर्म का केन्द्र बन गया। अनेक चित्रकार पुष्टि-संप्रदाय के गोस्वामियों के साथ मथुरा-वृन्दावन से आये जिनके हाथों से श्रीनाथजी के विग्रह के चित्र बनाये गये।[19] ब्रज एवं मेवाड़ की सांस्कृतिक परम्परा के समन्वय से धीरे-धीरे नाथद्वारा शैली का विकास होने लगा। श्रीनाथजी के प्राकट्य एवं लीलाओं से संबंधित तथा अष्टयाम की सेवापूजा के असंख्य चित्र कागज और कपड़े पर बनने लगे, जिन्हें धर्मपरायण एवं कला-प्रेमी लोग खरीद कर ले जाने लगे।

श्रीनाथजी के स्वरूप के पीछे सज्जा के लिए बड़े आकार के कपड़े पर जो पर्दे बनाये जाते हैं, उन्हें पिछवाई कहते हैं। नाथद्वारा शैली की मौलिक देन पिछवाई है। पिछवाइयाँ अधिकतर श्रीनाथजी के उत्सवों तथा कृष्णलीला सम्बन्धी किसी विषय को लेकर तैयार की जाती हैं। आज भी राजस्थान में पिछवाई बनाने की कला के पीछे नाथद्वारा शैली की परम्परा प्रमुख है। 18वीं शती से आज तक प्राकृतिक दृश्यों का चित्रण भी नाथद्वारा शैली की अपनी निजी विशेषता हैं।

धीरे-धीरे नाथद्वारा शैली में कलात्मक उत्कर्ष होता रहा। तिलकायत श्री गोवर्धनजी के समय में यहाँ की चित्रकला का विकास चरम सीमा पर था। नाथद्वारा शैली के मूल पोषक वे हजारों यात्री तथा श्रीनाथजी के भक्त रहे हैं, जो सज्जा हेतु चित्र खरीदते रहे हैं।

नाथद्वारा शैली की विशेषताएँ

18वीं शती के चित्रों में कृष्णचरित्र की बहुलता के कारण माता यशोदा, नन्द, बाल-ग्वाल, गोपियाँ आदि का चित्रण विशेष हुआ। बालकृष्ण के प्रभाव के कारण स्त्रियों की आकृति में प्रौढ़ता, शारीरिक स्थूलता और भावों के वात्सल्य की झलक विशेष दर्शनीय है। पुरुषों में गुसाइयों के पुष्ट कलेवर नन्द और अन्य बाल-गोपालों का भावपूर्ण चित्रण नाथद्वारा शैली (रंगीन चित्र-4) में विशेष हुआ हैं। लोककला का पूर्ण प्रभाव होने के कारण तत्कालीन शैली में सरलता गतिशीलता और सूचक रंगों का समन्वय अपनी विशेषता लेकर अवतीर्ण हुआ।

धार्मिक अनुष्ठानों एवं पुष्टि-संप्रदाय के नियमों के आधार पर चित्रण करना यहाँ की परम्परा तथा अनिवार्यता रही है। वर्ष-पर्यन्त उत्सवों की झाँकी के चित्रण की एक लंबी कड़ी इस शैली में द्रष्टव्य है। चौबीस उत्सवों के अतिरिक्त अन्नकूट, छप्पन भोग, नाव का मनोरथ, कलियों की हट्टी, बंगले के उत्सव आदि का बहुलता से अंकन हुआ है।

पुष्टि-संप्रदाय की परम्परा में नाथद्वारा शैली में छोटी से छोटी वस्तु का अंकन अनिवार्य है। तिलक के स्थान पर तिलक तथा मध्य भाग में लाल, साथ ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नथ-बेसर के तीन मोतियों में से बीच का मोती लाल होना ही चाहिए। चोटी, फूँदा, मुकुट, वंशी, गुलाब झारी, बीड़ा, चौखटा, कांछनी, पीताम्बर आदि शृंगारिक उपकरणों का अंकन अनिवार्य है।[20]

नाथद्वारा शैली की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता पिछवाई-चित्रण एवं भित्ति-चित्रण परम्परा रही है। समय-समय पर सज्जा हेतु श्रीनाथजी के स्वरूप के पीछे बड़ी-बड़ी कपड़े पर निर्मित पिछवाइयाँ लगाने की परम्परा के कारण पिछवाई कला अत्यधिक प्रसिद्ध हो गयी है। पुरानी पिछवाइयाँ पुष्टि-संप्रदाय के मंदिरों, संग्रहालयों एवं कला-मर्मज्ञों और प्रेमियों के पास उपलब्ध हैं, जिनमें कैलिको म्यूजियम, अहमदाबाद का नाम विशेष उल्लेखनीय है। अब तो व्यवसायिक दृष्टि से पिछवाइयों का धडल्ले से निर्माण होने लगा है जिन्हें होटलों, सार्वजनिक भवनों में लगाया जाता है।

होली, दीपावली तथा विशिष्ट उत्सवों पर मंदिर की दीवारों पर श्रीनाथजी की लीलाओं का अंकन भी नाथद्वारा शैली की एक अनवरत और जीवन्त परम्परा है, जिसने आज तक शैली की विशेषताओं को अक्षुण्ण बनाए रखा है।

आज से दो सौ वर्ष पूर्व श्री रामचन्द्र बाबा जयपुर से नाथद्वारा आये। उन्होंने शैली में ब्रजमण्डल के प्रकृति-परिवेश के पेड़-पौधों में नवीनता प्रदर्शित की। चित्रकार भगवान ने सूक्ष्मांकन का परिचय दिया। नारायण, चतुर्भुज, रामलिंग, घासीराम, उदयराम, देवकृष्ण आदि चित्रकारों का कार्य भी उल्लेखनीय है।

19वीं-20वीं शती में नाथद्वारा शैली में व्यापारिक बहुल चित्रण के कारण रंगों में बिखराव, रेखाओं में भदेसपन तथा फोटोग्राफी का प्रभाव आने लगा, जिससे यहाँ की कला पतनोन्मुख होती चली गयी, पर नाथद्वारा शैली की चित्रण-परम्परा आज भी प्रचलित है। श्रीनाथजी के स्वरूप और पिछवाइयों के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के कारण लगभग 35 कुटुम्बों के पुश्तैनी चित्रकार आज भी नाथद्वारा में चित्रांकन कर जीविकोपार्जन कर रहे हैं। यह बात दूसरी है कि आज चित्रांकन हल्का और बाजारू हो गया है, पर मेवाड़ी चित्रकला की नाथद्वारा शैली-परम्परा आज भी जीवित है।

देवगढ़ उपशैली

मारवाड़ की सीमा से लगा देवगढ़ ठिकाणा महाराणा जयसिंह के राज्यकाल (1680-1698) में रावत द्वारकादास चूँडावत द्वारा सन् 1680 में स्थापित हुआ। मेवाड़ की चित्रांकन परम्परा में होते हुए भी देवगढ़ में जो शैली विकसित हुई, उसमें भौगोलिक समीपता के कारण मारवाड़ का प्रभाव स्वाभाविक है। सन् 1728 में देवगढ़ की राजकुमारी महाराजा माधोसिंह जयपुर को ब्याही गयी, अतः भौगोलिक वैवाहिक, रक्त और सांस्कृतिक सम्बन्धों के कारण क्रमशः मारवाड़, जयपुर और मेवाड़ की कला की विशेषताओं को अंगीकार कर यहाँ के चित्रकारों ने जो चित्र बनाये उनकी अलग ही पहचान है। मोटी और सधी हुए रेखाएँ, मेवाड़ के विपरीत पीले रंगों का बाहुल्य, मारवाड़ के अनुकूल स्त्री-पुरुषों की आकृतियाँ मरुस्थल का प्राकृतिक परिवेश, शिकार, गोठ, अन्तःपुर, राजसी ठाठबाट, शृंगार, सवारी आदि के लोक-कलात्मक चित्रण ने देवगढ़ की चित्रकला को महत्त्वपूर्ण बना दिया। इस दृष्टि से इसको मेवाड़ की उपशैली में स्थान दिया जा सकता है।[21]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आज विभिन्न संग्रहालयों एवं निजी संग्रहकर्त्ताओं के पास देवगढ़ के चित्र उपलब्ध होते हैं, जिनमें राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली, प्रिंस ऑफ वेल्स संग्रहालय, बम्बई एवं कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर, कावसजी, बम्बई, श्री हरिदास स्वाली, बम्बई, बोमन बहरामजी, बम्बई आदि प्रमुख हैं। इसके अतिरिक्त देवगढ़ की महत्त्वपूर्ण सामग्री रावत नाहरसिंह, देवगढ़ के निजी संग्रह में उपलब्ध है। देवगढ़ के कपड़द्वार, अजारा की ओवरी, मोतीमहल आदि में जो भित्ति-चित्र उपलब्ध हैं, उनसे यहाँ की चित्रांकन परम्परा का सहज ही ज्ञान होता है।

देवगढ़ के चित्रकारों में वगता (1769-1820) और कँवला प्रथम (1775-1810) दो उल्लेखनीय चित्रकार थे, जिनकी पीढ़ी के चित्रकार कंवला द्वितीय (1800-1850), चोखा (1770-1830) तथा बैजनाथ ने यहाँ की चित्र-शैली को अपनी कलम से समृद्धशाली बनाया। सर्वप्रथम डॉ. श्रीधर अंधारे ने इस उपशैली को प्रकाशमान किया।

विषय की दृष्टि से देवगढ़ उपशैली में शिकार के चित्र अधिक बने हैं। कुँ. अनोपसिंह द्वारा सूअर का शिकार, शिकार के बाद गोठ, शिकारी कुत्तों का अंकन, शेर का शिकार, पक्षियों की शिकार के अतिरिक्त दरबारी वैभव, पूजापाठ (रंगीन चित्र-3) के भी चित्र बहुतायत से बने।

शाहपुरा उपशैली

शाहपुरा भीलवाड़ा जिले में स्थित प्रमुख ठिकाणा है, जिसे शाहजहाँ के समय में अलग राज्य का दर्जा मिला हुआ था।[22] मेवाड़ी परम्परा को आधार बनाकर यहाँ जो उपशैली विकसित हुई, उसमें लोक-जीवन का विशेष प्रभाव था जो आज तक भी फड़-चित्रण में चला आ रहा है।

लघुचित्रों की विस्तृत खोजबीन के अभाव में अभी बहुत-से चित्रों का सही वर्गीकरण नहीं हो पाया है। अन्य शैलियों और उपशैलियों की भाँति शाहपुरा की चित्रकला की भी धीरे-धीरे अब पहचान होने लगी है। कावसजी जहाँगीर संग्रहालय, बम्बई के राजा उम्मेदसिंह का सन् 1768 का व्यक्तिचित्र तथा सन् 1772 का रागमाला सैट जो ब्रिटिश म्यूजियम, लंदन में सुरक्षित है; में शाहपुरा उपशैली की लोक कलात्मक झलक द्रष्टव्य है।[23] इसी प्रकार कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय एवं श्री रामचरण व्याकुल संग्रहालय, जयपुर में कुछ चित्रों का अध्ययन कर शाहपुरा उपशैली का निर्धारण हो सकता है।

शाहपुरा के कुछ मंदिरों और भवनों में जो भित्ति-चित्रण उपलब्ध हैं, उससे यहाँ की फड़-चित्रण की परम्परा की सहज ही पहचान हो सकती है। समकालीन संदर्भ में श्री दुर्गालाल जोशी और भीलवाड़ा के श्रीलाल जोशी परिवार ने फड़-चित्रण में अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त की है जिसके माध्यम से शाहपुरा उपशैली की पहचान आज भी कायम है।

मेवाड़ स्कूल के विषय

यों तो भारतीय चित्रकला का चित्रण-आधार प्रमुखतया काव्य रहा है; पर मेवाड़ स्कूल ने काव्य को आधार बनाकर चित्रण करने की परम्परा को और

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सुदृढ़ बनाया । प्रारंभिक मेवाड़ स्कूल में जैन-ग्रंथों, चौर-पंचाशिका, बाल-गोपाल स्तुति जैसे विषयों को आधार बनाकर चित्रांकन किया गया, किन्तु वैष्णव-धर्म के प्रचार और प्रसार के कारण राम और कृष्ण चरित्र संबंधी ग्रंथों का चित्रांकन भी बहुलता से हुआ । मीराबाई और नाथद्वारा में श्रीनाथजी की स्थापना ने मेवाड़ में कृष्ण-भक्ति परम्परा का जो उजास फैलाया, उसके फलस्वरूप मेवाड़ी चित्रकला में श्रीमद्भागवत, सूरसागर, गीतगोविन्द, रसिकप्रिया (रंगीन चित्र-1) आदि के साथ ही कृष्णलीला के फुटकर चित्र बहुलता से बने । श्रीनाथजी की अष्टयाम की सेवापूजा तथा वर्षभर के उत्सवों के चित्रण के अतिरिक्त उनके स्वरूप का चित्रांकन नाथद्वारा शैली में विस्तार से हुआ ।

रामचरित्र के आधार पर आर्ष रामायण का चित्रण मेवाड़ स्कूल की अमर धरोहर है । बिहारी सतसई, रागरागिनी, बारहमासा, उत्सव, रागरंग, दरबारी जीवन, शिकार तथा पशु-पक्षियों का चित्रांकन और राजा-महाराजाओं के वैभवपूर्ण जीवन और घटनाओं एवं व्यक्ति-चित्रों का अंकन मेवाड़ स्कूल के प्रमुख चित्रण आधार रहे हैं ।

मेवाड़ स्कूल की विशेषताएँ

मेवाड़ स्कूल की कुछ ऐसी प्रमुख विशेषताएँ रही हैं, जिन्होंने राजस्थान की ही नहीं वरन् पहाड़ी स्कूल तक की विभिन्न शैलियों को प्रभावित किया । प्रारम्भिक मारवाड़ी एवं हाड़ौती स्कूल की कला पर तो मेवाड़ी प्रभाव विशेषतः देखने को मिलता है । इसी प्रकार बसौली शैली पर भी मेवाड़ी कला का प्रभाव द्रष्टव्य है ।

प्रारम्भिक राजस्थानी चित्रकला पर गुजरात एवं जैन-शैली का पूर्ण प्रभाव रहा, अतः एकचश्मी चेहरों पर से दूसरी निकली हुई (सवाचश्म) आँख के हटते ही मेवाड़ स्कूल का निर्धारण प्रारम्भ हो गया । इस पर भी प्रारम्भिक मेवाड़ स्कूल में जैन, अपभ्रंश शैली के मिश्रणस्वरूप लोक-कला की रुक्षता मोटापन, रेखाओं का भदेसपन और हावभावों का स्थैर्य ही इसकी विशेषता बन गयी ।

17वीं शती के दूसरे दशक से मेवाड़ स्कूल का स्वतंत्र प्रारुप अपनी अनोखी विशेषताएँ लेकर प्रस्तुत हुआ । हिन्दू, मुगल और पठानी प्रभाव को आत्मसात् करते हुए अपभ्रंश कला की धरती पर मेवाड़ स्कूल की चित्रकला विकसित हुई । उसमें पुरुषाकृति गठीली, मूँछों से युक्त भरे चेहरे, विशाल नयन, खुले हुए अधर, छोटी ग्रीवा तथा छोटा कद, उदयपुरी पगड़ी व लंबा साफा, कमर में दुपट्टा और सामान्य अलंकारों से सुसज्जित शरीर मेवाड़ी कला की विशेषताएँ हो गयीं । स्त्रियों का चित्रांकन सरलता के भाव से युक्त, मीनाकृत आँखें, सीधी लंबी नाक तथा भरी हुई दोहरी चिबुक, ठिगना कद, लूगड़ी-घाघरे और कंचुकी तथा ठेठ राजस्थानी आभूषणों में आवेष्टित शरीर अंकित हुए हैं ।

प्रकृति का संतुलित चित्रण मेवाड़ी कला की प्रमुख विशेषता रही है । प्रारंभिक चित्रों में मालवी प्रभाव है, तो बाद की कला में नयनाभिराम प्रकृति का अंकन मेवाड़ी परिवेश पर आधृत है । पशुओं में हाथी, शेर, हिरण, घोडे और पक्षियों में चकोर, हंस, मयूर बकुल, सारस आदि का चित्रण बहुलता से हुआ है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मेवाड़ स्कूल के रंगों की अपनी निजी विशेषता रही है । अधिकतर लाल, पीले, हरे, नीले, सफेद आदि सूचक रंगों का प्रयोग किया गया है । यही कारण है कि लोक-कलात्मक रंगों की छटा मेवाड़ी कला की निजी परम्परा रही है । मानव स्वभाव और शास्त्रीय दृष्टि से इस स्कूल में रंगों का विशेष प्रयोग किया गया है । शारीरिक रंग भी अधिक उज्ज्वल न होकर श्याम, ताम्र और नील वर्ण के हैं । सादे तथा काले खतों से आवेष्टित तथा तड़क-भड़क से अलग मेवाड़ के चित्र संसारभर के संग्रहालयों में उपलब्ध हैं ।

18वीं शती के चित्रों में लघु-चित्रण के साइज, शारीरिक एवं प्राकृतिक परिवेश की बनावट और मिश्रित रंगों के प्रयोग का तत्कालीन प्रभाव मेवाड़ स्कूल में परखा जा सकता है । इसके बाद से तो मेवाड़ी कला ने अपनी विशेषताएँ खो दीं, जिसके कारण उसकी शास्त्रीय तेजस्विता धीरे-धीरे विलीन हो गयी ।

सन्दर्भ

1. गौ. ही. ओझा : उदयपुर राज्य का इतिहास, पृ. 128
2. देखिए- डॉ. गोपीनाथ शर्मा : भारतीय चित्रकला और राजस्थान, वार्षिकी-63, पृ. 22, 23
3. देखिए- गौ. ही. ओझा : उदयपुर राज्य का इतिहास, भाग-1, पृ. 315
4. देखिए- आर. के वशिष्ठ : मेवाड़ की चित्रांकन परम्परा, पृ. 14
5. देखिए- जयसिंह नीरज : राजस्थानी चित्रकला और हिन्दी कृष्ण-काव्य, पृ. 57
6. देखिए- आर. के. वशिष्ठः मेवाड़ की चित्रांकन परम्परा, पृ. 15
7. डॉ. मोतीचन्द्र : मेवाड़ पेण्टिंग, पृ. 3
8. कार्ल खण्डालवाला : दि ओरिजिन एण्ड डवलपमैण्ट ऑफ राजस्थानी पेण्टिंग, भाग-II नं. 2, 1958
9. देखिए- लीला शिवशंकर : नोट्स ऑन दि चौरपंचाशिका, दि टाइम्स ऑफ इण्डिया एनुवल-1965
10. मारु राग ॥42॥ संवत् 1685 वर्ष आसोवद राजा श्री जगतसिंह उदैपुर मधै लिखतं । चितारा साहीबदीन ।
11. देखिए- भण्डारकर इन्स्टीट्यूट, पूना, सं. 61
12. विस्तार से देखिए- डॉ. जयसिंह नीरज : राजस्थानी चित्रकला और हिन्दी कृष्ण-काव्य, पृ. 91
13. देखिए- डॉ. आर. के. वशिष्ठ : मेवाड़ की चित्रांकन परम्परा, पृ. 29
14. देखिए- ओ. सी. गांगुली : क्रिटिकल कैटलॉग ऑफ मिनियचर पेण्टिंग्स इन दी बड़ौदा म्यूजियम
15. फाल्गुन गोस्वामी : राजस्थान में पुष्टिमार्ग, शोध-पत्रिका, भाग-II, अंक-2, पृष्ठ-74
16. डॉ. रघुवीरसिंह : पूर्व आधुनिक राजस्थान, पृ. 129
17. वही, पृ. 130
18. देखिए-गोवर्धनलाल जोशी : नाथद्वारा की चित्रकला, वार्षिकी-63
19. विस्तार से देखिए- चिरंजीव लाल शर्मा : ब्रज संस्कृति और नाथद्वारा की चित्र-परम्परा, आकृति - 80, पृ. 29, 30
20. देखिए- श्रीधर अंधारे : देवगढ़ पेंटिंग
21. कविराज श्यामलदास : वीर विनोद, भाग-1, पृ. 141
22. श्रीधर अन्धारे : बुलेटिन, प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम ऑफ वैस्टर्न इण्डिया, सं. 10, 1967

□

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

5

मारवाड़ स्कूल

राजस्थान प्रदेश का आधा भाग मरुस्थल से अटा पड़ा है। बाड़मेर, जैसलमेर, जोधपुर, बीकानेर, नागौर तथा शेखावाटी का कुछ भाग टीबों और धोरों की संस्कृति का प्रतीक है। इस मरुप्रदेश में जनजीवन जितना ही कठिन है, यहाँ की सांस्कृतिक परम्परा उतनी ही आश्चर्यचकित कर देने वाली है। अधिकांशतः राठौरों की इस धरती में चित्रकला की जो परम्परा पनपी और विकसित हुई, वह मारवाड़ स्कूल की चित्रकला के नाम से जानी जाती है जिसकी अनेक शैलियाँ और उपशैलियाँ हैं। इस वृहद् प्रान्तर में जोधपुर शैली, बीकानेर शैली, किशनगढ़ शैली, अजमेर-शैली, नागौर उपशैली के अतिरिक्त सिरोही, जैसलमेर, अजमेर आदि स्थानों की कला भी मारवाड़ स्कूल से पूर्णतया प्रभावित है।

प्राचीन समय से ही यह प्रदेश कलाओं का भण्डार रहा है, ओसियाँ के मंदिर एवं मण्डोर की कलात्मक धरोहर के साथ चित्रकला का यहाँ विकास न हुआ हो यह माना नहीं जा सकता, किन्तु बिना तथ्यों के कुछ कह पाना कठिन है।

तिब्बती यात्री तारानाथ ने 7वीं शती में शृंगधर नामक चित्रकार का मरुप्रदेश में उल्लेख किया है,[1] जिससे ज्ञात होता है कि मारवाड़ में चित्रकला की पूर्व परम्परा रही है। प्राचीन समय में यह भूभाम गुजरात प्रान्त का ही भाग था, जिसकी राजधानी भीनमाल भी रही, इसलिए पश्चिमी राजस्थान की कला की गुजरात-शैली, जैन-शैली, अपभ्रंश शैली के विकासात्मक स्वरूप को मरुप्रदेश से अलग नहीं किया जा सकता। बहुत से जैन-ग्रन्थ और अपभ्रंश ग्रन्थों के चित्रण का उल्लेख मरुप्रदेश में ही माना गया है।[2] यह तथ्य भी सही है कि राजस्थानी चित्रकला का उद्‌भव और विकास का केन्द्र पश्चिमी राजस्थान ही रहा है।

मेवाड़ की भाँति मरुप्रदेश ने भी अजन्ता शैली की परम्परा का निर्वाह किया, जिसका पूर्व स्वरूप मण्डोर के द्वारों से आँका जा सकता है।[3] गुर्जर प्रतिहारों तथा सपादलक्ष के चौहानों के इस वृहद् भूभाग पर राष्ट्रकूट राजपूतों ने अपना वर्चस्व स्थापित किया। राठौरवंशी जोधा द्वारा जोधपुर, बीका द्वारा बीकानेर, किशनसिंह द्वारा किशनगढ़ राज्यों की स्थापना के साथ ही जो चित्रकला अपनी पूर्व परम्परा के अनुकूल विकसित हुई, वह मारवाड़ी कला के नाम से विख्यात हो गयी। उपर्युक्त राज्यों, अनेक ठिकाणों एवं पड़ौसी राज्यों में मारवाड़ स्कूल अनेक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शैलियों, उपशैलियों और ठिकाणा कला के रूप में विकसित हुआ जो अपनी अलग पहचान रखता है, जिसमें जोधपुर शैली और बीकानेर शैली के साथ किशनगढ़ शैली तो अपनी विशिष्टता के कारण संसार-प्रसिद्ध हो गयी है ।

जोधपुर शैली

13वीं शताब्दी में राठौर मारवाड़ प्रान्तर में आये तथा अपनी वीरता के कारण उन्होंने यहाँ अपने राज्य की स्थापना की । सन् 1459 ई. में जोधा ने जोधपुर शहर एवं गढ़ की स्थापना कर उसे राजस्थानी बनाया । धीरे-धीरे सामंती संस्कृति यहाँ पनपने लगी जिसके फलस्वरूप यहाँ की चित्रकला में जैन-शैली, गुजरात-शैली और अपभ्रंश शैली का नवीनीकरण होने लगा ।

मारवाड़ की सांस्कृतिक परम्परा एवं कलात्मक परिवेश को नया रूप देने का श्रेय मालवदेव (1532 ई.– 1569 ई.) को है ।[4] राजा मालवदेव से पूर्व जोधपुर शैली पर पश्चिमी भारतीय शैली एवं मेवाड़ स्कूल का पूर्ण प्रभाव था, जिसके फलस्वरूप उसके पूर्व स्वरूप के निर्धारण में कठिनाई होती है, किन्तु मालवदेव ने अपनी वीरता, विद्वत्ता एवं दूरदर्शिता द्वारा मारवाड़ का फिर से स्वतंत्र स्वरूप स्थापित कर कला को विकसित किया । जोधपुर शहर के चारों और परकोटा बनवाकर उसे नया स्वरूप प्रदान किया । शेरशाह से दुखी होकर मुगल बादशाह हुमायूँ ने मालवदेव के यहाँ शरण ली । ऐसे महत्त्वाकाँक्षी राजा के यहाँ चित्रकला का विकास भी अवश्य हुआ होगा, किन्तु बिना तथ्यों के कुछ कह पाना कठिन है ।

सन् 1591 ई. का प्रसिद्ध 'उत्तराध्ययन सूत्र'[5] मारवाड़ की कला को समझने में सहयोग देता है । हालाँकि इस सचित्र ग्रंथ की विषयवस्तु और शैली जैन-कला से अधिक सम्बंधित है, पर इसके चित्रों में राजपूत संस्कृति का मारवाड़ी दरबारी प्रभाव सम्मिश्रित होता दिखाई देता है ।[6] चौखेलाव महल के पुराने धुँधले भित्ति-चित्रों में भी तत्कालीन चित्रण का स्वरूप देखने को मिलता है ।

17वीं शती प्रारम्भ में जोधपुर शैली के अनेक चित्र बने; जिनमें मेवाड़ी प्रभाव होते हुए भी जोधपुरी मौलिकता उल्लेखनीय है । राजा सूरसिंह के समय (1595-1620 ई.) के अनेक चित्र आर्ट एण्ड पिक्चर गैलेरी, बड़ौदा और कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर में सुरक्षित हैं । बड़ौदा गैलेरी का विलावल रागिनी वाला चित्र एवं सूरसिंह का व्यक्ति-चित्र इस दृष्टि से उल्लेखनीय है ।[7] सूरसिंह कलाप्रेमी राजा थे । उनके समय में सचित्र ग्रंथों का भी निर्माण हुआ । ऐतिहासिक सचित्र ग्रंथों में 'ढोला-मारू'[8] तथा पुस्तक प्रकाश, जोधपुर के 'भागवत' का प्रमुख स्थान है । सन् 1610 में लिखित एवं चित्रित 'भागवत' मेवाड़ एवं मारवाड़ की अनेक विशेषताओं से युक्त है । उदयसिंह के समय में (सन् 1581) जोधपुर का महान् अकबर से संपर्क हो गया था, जिसके फलस्वरूप चित्रों में वेशभूषा तथा स्थापत्य का मुगलई प्रभाव स्वाभाविक रूप से बढ़ता चला गया । उपर्युक्त भागवत में अर्जुन, कृष्ण आदि की वेशभूषा मुगलई है तो चेहरों की बनावट स्थानीय है । इसी प्रकार गोपियों की वेशभूषा मारवाड़ी है तो आभूषण मुगलई हैं । चित्रों के शीर्षक नागरी-लिपि में गुजराती भाषा में दिये गये हैं । वाकई यह सचित्र-ग्रंथ ऐतिहासिक होने के साथ ही समन्वय का अनोखा प्रतीक है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मारवाड़ के जन-जीवन से प्रभावित कुँवर संग्रामसिंह संग्रहालय में 'रागमाला' (रंगीन चित्र-5) का एक तिथियुक्त ऐतिहासिक महत्त्व का सैट उपलब्ध है, जो मारवाड़ स्कूल की मौलिकता को उजागर करने वाला प्राचीनतम सैट माना जाता है। सन् 1623 में कलाकार वीरजी द्वारा पाली के प्रसिद्ध वीर पुरुष विठ्ठलदास चाँपावत के लिए चित्रित किया गया।[9] लघु-चित्रों में भी छोटे आकार की इकहरी वसली पर निर्मित ये चित्र शुद्ध राजस्थानी शैली में अंकित हैं, जिनमें मारवाड़ की लोककला का पूर्ण प्रभाव होते हुए भी राजस्थान की पूर्व पारम्परिक शैली से वे जुड़े हुए हैं। चेहरे, आँखों और मूँछों की बनावट चावंड-शैली तथा चौर-पंचाशिका शैली से मिलती-जुलती है। पेड़ों की बनावट मालवा शैली की भाँति है, फिर भी ये चित्र वेशभूषा, बनावट, रंगयोजना आदि में मारवाड़ स्कूल की प्रारंभिक सभी विशेषताओं से युक्त हैं।

जोधपुर शैली का दूसरा दौर महाराजा जसवन्तसिंह के राज्यकाल (सन् 1638-1678) से प्रारम्भ होता है। राजा जसवन्तसिंह औरंगजेब के प्रधान सेनापति थे। उन्होंने युद्धों में अनेक विजय प्राप्त कर वीरता का ही परिचय नहीं दिया वरन् विद्वत्ता और कला-प्रेम का परिचय भी दिया। मुगल दरबार के अनेक वास्तुकारों और कलाकारों से उन्होंने मण्डौर और जोधपुर में भवन-निर्माण करवाया तथा चित्रकला की जहाँगीरी मुगल कलम को अपने राज्य में प्रश्रय दिया।[10] पिक्चर एण्ड आर्ट गैलेरी, बड़ौदा में उपलब्ध अनेक दरबारी एवं सामंती संस्कृति के इन चित्रों में यह मुगलई प्रभाव विशेष द्रष्टव्य है।

कृष्ण-भक्ति आन्दोलन के प्रसार में जोधपुर का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। राजा जसवन्तसिंह अर्थात् 'ब्रजराज' ने उसे ब्रजभूमि ही बना दिया। श्री बालकृष्ण, श्री मदनमोहन, श्याम मनोहर आदि के मंदिर जोधपुर की जनता को जहाँ भक्ति-रस की धारा में रसमग्न करते रहे हैं, वहीं कृष्णचरित्र को आधार बनाकर यहाँ चित्रण की परम्परा ही चल पड़ी।[11] बड़ौदा संग्रहालय[12] तथा कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर के सूरसागर पर आधारित चित्र इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, जिनमें काव्य के भावों को कलाकारों ने चतुराई से अंकित किया है। बड़ौदा संग्रहालय में ही प्राप्त 'रसिकप्रिया'[13] का चित्रण भी इसी समय में हुआ। इन चित्रों की रेखाएँ, भाव-भंगिमाएँ तथा रंग-संयोजन देखते ही बनता है।

लोक-जीवन से संबंधित लोक-गाथाओं के चित्रण की परम्परा भी जोधपुर-शैली में विशेष रही, जिसमें ढोला-मारू, उजली-जेठवा, मूमलदे, निहालदे, रूपमति-बाजबहादुर जैसे प्रेम-प्रसंग विशेषतः चित्रित हुए। इनमें ठेठ मारवाड़ी लोक-शैली का प्रभाव देखते ही बनता है।

राजा जसवन्तसिंह के प्रारम्भिक शासन में जहाँ मुगल कलम का प्रभाव अधिक था, वह धीरे-धीरे स्थानीय प्रभाव में ढलने लगा और उनके अंतिम समय (सन् 1678) तक जोधपुर शैली का मौलिक स्वरूप उभरकर सामने आ गया जिसके मूल कारण औरंगजेब की कलाओं के प्रति नकारात्मक नीति, जोधपुर में कृष्ण-भक्ति आन्दोलन को प्रश्रय और लोक-कथाओं का अंकन ही माना जा सकता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राजा जसवन्तसिंह के बाद एक लंबे समय तक उपर्युक्त तौर-तरीकों के अनुसार ही चित्रण होता रहा, किन्तु उस समय के चित्र बहुत कम उपलब्ध होते हैं, इसलिए 18वीं शती के जोधपुर शैली के इतिहास की खोजबीन होना बहुत जरूरी है। यों तो वीर दुर्गादास के अपूर्व साहस के फ़लस्वरूप अजीतसिंह का शासनकाल (1678) भी कम उल्लेखनीय नहीं है। इस समय के चित्रों के विषय रसिकप्रिया, गीतगोविन्द जैसे काव्य और राजदरबार, आखेट, उत्सव, जुलूस तथा राजाओं, सामन्तों, ठिकाणेदारों के व्यक्ति-चित्र रहे। राजकीय संरक्षण के फलस्वरूप अभयसिंह तथा रामसिंह के शासनकाल् में (1724–1750-52) रागरागिनी, बारहमासा, लोककथाएँ तथा व्यक्तिगत शबीहों का चित्रण विशेष वेशभूषा में हुआ।

जोधपुर शैली का तृतीय दौर 19वीं शती प्रारम्भ से उपलब्ध होता है। महाराजा मानसिंह के काल में (सन् 1803-1843) बने चित्रों की परम्परा सर्वाधिक उपलब्ध होती है। राजकीय संग्रहालय, जोधपुर, मेहरानगढ़ संग्रहालय, जोधपुर, कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर, राजकीय संग्रहालय, जयपुर एवं प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर (रंगीन चित्र-6) में इस समय के चित्र बहुलता से उपलब्ध होते हैं।

19वीं शती में मारवाड़ पर नाथ-सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव रहा। नाथ-सम्प्रदाय आयसजी देवनाथ राजा मानसिंह के गुरु थे, जिनके अनेक मठों में चित्रकला परिपोषित और सुरक्षित हुई। महामंदिर जोधपुर उनका प्रमुख स्थल था। इसी समय के मतिराम के 'रसराज' (श्वेत श्याम चित्र-6) पर आधारित 63 चित्र मठ से प्राप्त हुए, जो रामगोपाल विजयवर्गीय, कुमार संग्रामसिंह एवं राजकीय संग्रहालय, जयपुर में सुरक्षित हैं। जोधपुर स्थित महामंदिर में भित्ति-चित्रण के अनेक नमूने आज भी द्रष्टव्य हैं। नाथ-सम्प्रदाय की पारंपरिक जीवन-शैली का इन भित्ति-चित्रों में सुन्दर अंकन हुआ है।

राजा मानसिंह के समय में अनेक कलाकारों ने जमकर कार्य किया, जिनमें भाटी अमरदास (1800-1830), दाना (1810), भाटी शिवदास, देवदास, जीतमल (1825), कालूराम आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। कुमार संग्रामसिंह के संग्रहालय में दाना भाटी द्वारा निर्मित अनेक चित्र जोधपुर शैली की अलग पहचान कराते हैं। जोधपुर संग्रहालय एवं प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान में अवस्थित जोधपुर के राजाओं के व्यक्ति-चित्र इसी समय के बने हुए हैं। शिवपुराण, शिवरहस्य, देवी महात्म्य दुर्गा-सप्तशती, नाथ-चरित्र, सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति, सूरजप्रकाश, ढोला-मरवण री बात, पंचतंत्र, कामसूत्र बेलि कृष्ण-रुकमणी आदि सचित्र-ग्रंथ इसी समय की देन हैं,[14] जिनका आकार-प्रकार भी लघुचित्रों से अलग हटकर कुछ बड़ा है।

मानसिंह के उत्तराधिकारी तखतसिंह के समय (1843-1873 ई) में चितारा शंकरदास महत्त्वपूर्ण कलाकार था, पर अन्य राज्यों की भाँति जोधपुर में भी कंपनी-शैली का प्रभाव आने लगा, जिसके फलस्वरूप जोधपुर शैली की मौलिकता धीरे-धीरे विलीन होने लगी और योरोपियन प्रभाव के यथार्थवादी चित्र अधिक बनने लगे जिससे यह शैली पतनोन्मुख हो गयी। इस समय के कुछ चित्र डॉ. कल्याणसिंह शेखावत, जोधपुर एवं शोध संस्थान चोपासनी में उपलब्ध हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस प्रकार मारवाड़ स्कूल के अन्तर्गत जोधपुर शैली का उत्थान, विकास और पतन मालदेव के समय से लेकर सूरसिंह, गजसिंह और जसवन्तसिंह तथा मानसिंह, तखतसिंह, भीमसिंह के समय में आँका जा सकता है।

जोधपुर शैली की विशेषताएँ

जोधपुर शैली मारवाड़ स्कूल की प्रमुखतम शैली है। खेद यही है कि आज भी इस शैली के प्राचीन चित्र बहुत कम उपलब्ध हुए हैं। जो भी प्राप्य हैं उनमें 19वीं शती के चित्रों का बाहुल्य है।

इस शैली पर मेवाड़ स्कूल का विशेष प्रभाव होने के उपरान्त भी जोधपुर शैली की अपनी निजी विशेषताएँ हैं जिनके कारण उसका अलग संविधान प्रकाश में आता है। जोधपुर शैली के पुरुष लंबे-चौड़े, गठीले बदन के तथा उनके गल-मुच्छ, ऊँची पगड़ी, राजसी वैभव के वस्त्राभूषण विशेष प्रभावशाली होते हैं। स्त्रियों के अंग-प्रत्यंगों का अंकन भी गठीला है। उनकी वेशभूषा में ठेठ राजस्थानी लहँगा, ओढ़नी और लाल फुंदनों का प्रयोग प्रमुख रूप से हुआ है। बादाम-सी आँखें और ऊँची पाग जोधपुर शैली की अपनी निजी देन है।

मरुप्रदेश का स्थानीय प्रभाव इस शैली के चित्रों में विशेष द्रष्टव्य है। मरु के टीले, छोटे-छोटे झाड़ एवं पौधे, हिरण, ऊँट, कौवे, घोड़े आदि के अंकन के साथ ही राजसी ठाट-बाट, दरबारी जीवन, महल-मालियों का चित्रण बड़ी ऊर्जा के साथ हुआ है। लाल और पीले रंगों का लोक-कलात्मक प्रयोग शैली की निजी विशेषता रही है।

विषय के चयन में भी जहाँ परम्परा से चले आ रहे विषयों का अंकन इस शैली में हुआ है, वहीं यहाँ की लोक-कथाओं को कलाकारों ने विस्तार से चित्रांकित किया है जिनमें ढोला-मारू, ऊजली-जेठवा विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस शैली के प्रमुख चित्रकार; जिनके नाम उपलब्ध हो सके हैं, वे वीरजी (1623), नारायणदास (1700), भाटी अमरदास (1750), छज्जू भाटी, किशनदास (1800), दाना (1810) के पुत्र शंकरदास और बभूत भाटी, भाटी शिवदास, देवदास, जीतमल (1825), कालूराम (1831) आदि हैं। दाना के पुत्र महाराजा जसवन्तसिंह द्वितीय के काल (1873-1893) तक चित्र बनाते रहे।

जोधपुर शैली मारवाड़ स्कूल की प्रमुख शैली है, इसलिए इस पर विस्तार से अभी भी काम होने की गुंजाइश है।

बीकानेर शैली

सुदूर मरुप्रदेश में राठौरवंशी राव बीकाजी द्वारा सन् 1488 में बीकानेर राज्य की स्थापना हुई। मारवाड़ का ही एक अंग होने के कारण तथा जोधपुर के वंशज होने के कारण बीकानेर की कलात्मक धरोहर मारवाड़ स्कूल की ही परम्परा में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राजा जसवन्तसिंह के बाद एक लंबे समय तक उपर्युक्त तौर-तरीकों के अनुसार ही चित्रण होता रहा, किन्तु उस समय के चित्र बहुत कम उपलब्ध होते हैं, इसलिए 18वीं शती के जोधपुर शैली के इतिहास की खोजबीन होना बहुत जरूरी है। यों तो वीर दुर्गादास के अपूर्व साहस के फ़लस्वरूप अजीतसिंह का शासनकाल (1678) भी कम उल्लेखनीय नहीं है। इस समय के चित्रों के विषय रसिकप्रिया, गीतगोविन्द जैसे काव्य और राजदरबार, आखेट, उत्सव, जुलूस तथा राजाओं, सामन्तों, ठिकाणेदारों के व्यक्ति-चित्र रहे। राजकीय संरक्षण के फलस्वरूप अभयसिंह तथा रामसिंह के शासनकाल, में (1724–1750-52) रागरागिनी, बारहमासा, लोककथाएँ तथा व्यक्तिगत शबीहों का चित्रण विशेष वेशभूषा में हुआ।

जोधपुर शैली का तृतीय दौर 19वीं शती प्रारम्भ से उपलब्ध होता है। महाराजा मानसिंह के काल में (सन् 1803-1843) बने चित्रों की परम्परा सर्वाधिक उपलब्ध होती है। राजकीय संग्रहालय, जोधपुर, मेहरानगढ़ संग्रहालय, जोधपुर, कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर, राजकीय संग्रहालय, जयपुर एवं प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर (रंगीन चित्र-6) में इस समय के चित्र बहुलता से उपलब्ध होते हैं।

19वीं शती में मारवाड़ पर नाथ-सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव रहा। नाथ-सम्प्रदाय आयसजी देवनाथ राजा मानसिंह के गुरु थे, जिनके अनेक मठों में चित्रकलां परिपोषित और सुरक्षित हुई। महामंदिर जोधपुर उनका प्रमुख स्थल था। इसी समय के मतिराम के 'रसराज' (श्वेत श्याम चित्र-6) पर आधारित 63 चित्र मठ से प्राप्त हुए, जो रामगोपाल विजयवर्गीय, कुमार संग्रामसिंह एवं राजकीय संग्रहालय, जयपुर में सुरक्षित हैं। जोधपुर स्थित महामंदिर में भित्ति-चित्रण के अनेक नमूने आज भी द्रष्टव्य हैं। नाथ-सम्प्रदाय की पारंपरिक जीवन-शैली कां इन भित्ति-चित्रों में सुन्दर अंकन हुआ है।

राजा मानसिंह के समय में अनेक कलाकारों ने जमकर कार्य किया, जिनमें भाटी अमरदास (1800-1830), दाना (1810), भाटी शिवदास, देवदास, जीतमल (1825), कालूराम आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। कुमार संग्रामसिंह के संग्रहालय में दाना भाटी द्वारा निर्मित अनेक चित्र जोधपुर शैली की अलग पहचान कराते हैं। जोधपुर संग्रहालय एवं प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान में अवस्थित जोधपुर के राजाओं के व्यक्ति-चित्र इसी समय के बने हुए हैं। शिवपुराण, शिवरहस्य, देवी महात्म्य दुर्गा-सप्तशती, नाथ-चरित्र, सिद्ध-सिद्धान्त पद्धति, सूरजप्रकाश, ढोला-मरवण री बात, पंचतंत्र, कामसूत्र बेलि कृष्ण-रुकमणी आदि सचित्र-ग्रंथ इसी समय की देन हैं,[14] जिनका आकार-प्रकार भी लघुचित्रों से अलग हटकर कुछ बड़ा है।

मानसिंह के उत्तराधिकारी तखतसिंह के समय (1843-1873 ई) में चितारा शंकरदास महत्त्वपूर्ण कलाकार था, पर अन्य राज्यों की भाँति जोधपुर में भी कंपनी-शैली का प्रभाव आने लगा, जिसके फलस्वरूप जोधपुर शैली की मौलिकता धीरे-धीरे विलीन होने लगी और योरोपियन प्रभाव के यथार्थवादी चित्र अधिक बनने लगे जिससे यह शैली पतनोन्मुख हो गयी। इस समय के कुछ चित्र डॉ. कल्याणसिंह शेखावत, जोधपुर एवं शोध संस्थान चोपासनी में उपलब्ध हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस प्रकार मारवाड़ स्कूल के अन्तर्गत जोधपुर शैली का उत्थान, विकास और पतन मालदेव के समय से लेकर सूरसिंह, गजसिंह और जसवन्तसिंह तथा मानसिंह, तखतसिंह, भीमसिंह के समय में आँका जा सकता है ।

जोधपुर शैली की विशेषताएँ

जोधपुर शैली मारवाड़ स्कूल की प्रमुखतम शैली है । खेद यही है कि आज भी इस शैली के प्राचीन चित्र बहुत कम उपलब्ध हुए हैं । जो भी प्राप्य हैं उनमें 19वीं शती के चित्रों का बाहुल्य है ।

इस शैली पर मेवाड़ स्कूल का विशेष प्रभाव होने के उपरान्त भी जोधपुर शैली की अपनी निजी विशेषताएँ हैं जिनके कारण उसका अलग संविधान प्रकाश में आता है । जोधपुर शैली के पुरुष लंबे-चौड़े, गठीले बदन के तथा उनके गल-मुच्छ, ऊँची पगड़ी, राजसी वैभव के वस्त्राभूषण विशेष प्रभावशाली होते हैं । स्त्रियों के अंग-प्रत्यंगों का अंकन भी गठीला है । उनकी वेशभूषा में ठेठ राजस्थानी लहँगा, ओढ़नी और लाल फुंदनों का प्रयोग प्रमुख रूप से हुआ है । बादाम-सी आँखें और ऊँची पाग जोधपुर शैली की अपनी निजी देन है ।

मरुप्रदेश का स्थानीय प्रभाव इस शैली के चित्रों में विशेष द्रष्टव्य है । मरु के टीले, छोटे-छोटे झाड़ एवं पौधे, हिरण, ऊँट, कौवे, घोड़े आदि के अंकन के साथ ही राजसी ठाट-बाट, दरबारी जीवन, महल-मालियों का चित्रण बड़ी ऊर्जा के साथ हुआ है । लाल और पीले रंगों का लोक-कलात्मक प्रयोग शैली की निजी विशेषता रही है ।

विषय के चयन में भी जहाँ परम्परा से चले आ रहे विषयों का अंकन इस शैली में हुआ है, वहीं यहाँ की लोक-कथाओं को कलाकारों ने विस्तार से चित्रांकित किया है जिनमें ढोला-मारू, ऊजली-जेठवा विशेष उल्लेखनीय हैं ।

इस शैली के प्रमुख चित्रकार; जिनके नाम उपलब्ध हो सके हैं, वे वीरजी (1623), नारायणदास (1700), भाटी अमरदास (1750), छज्जू भाटी, किशनदास (1800), दाना (1810) के पुत्र शंकरदास और बभूत भाटी, भाटी शिवदास, देवदास, जीतमल (1825), कालूराम (1831) आदि हैं । दाना के पुत्र महाराजा जसवन्तसिंह द्वितीय के काल (1873-1893) तक चित्र बनाते रहे ।

जोधपुर शैली मारवाड़ स्कूल की प्रमुख शैली है, इसलिए इस पर विस्तार से अभी भी काम होने की गुंजाइश है ।

बीकानेर शैली

सुदूर मरुप्रदेश में राठौरवंशी राव बीकाजी द्वारा सन् 1488 में बीकानेर राज्य की स्थापना हुई । मारवाड़ का ही एक अंग होने के कारण तथा जोधपुर के वंशज होने के कारण बीकानेर की कलात्मक धरोहर मारवाड़ स्कूल की ही परम्परा में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

एक महत्त्वपूर्ण कड़ी गिनी जाती है। बीकानेर राज्य अनेक बाह्य प्रभावों के उपरान्त भी कलात्मक दाय की दृष्टि से अपना मौलिक स्थान रखता है।[15] अन्य राजस्थानी शैलियों की भाँति बीकानेर की चित्रकला का भी 16वीं शती के अन्त में प्रादुर्भाव माना जाता है।

बीकानेर शैली के प्रारम्भिक चित्र महाराजा रायसिंह के समय (1571-1591) चित्रित भागवत् पुराण के माने जाते हैं।[16] रायसिंह स्वयं संस्कृत के विद्वान थे। 'रायसिंह महोत्सव' तथा 'ज्योतिष रत्नाकर' ग्रंथ उन्हीं के द्वारा लिखे गये।[17] बीकानेर के प्रारम्भिक चित्रों में जैन स्कूल का पूर्ण प्रभाव दर्शनीय है। मथेरण जैन यति थे, जिन्होंने कालान्तर में जैन-धर्म स्वीकार कर लिया और चित्र-कर्म करने लगे। उन्होंने जैन-धर्म के ग्रंथों के चित्रण के साथ ही बीकानेर-शैली की मौलिकता में जैन स्कूल का प्रभाव प्रदर्शित किया।

राजस्थान एक वृहद् प्रदेश है। आपसी सम्बन्धों तथा मुगलों के प्रभाव के कारण यहाँ की चित्रकला में पारस्परिक प्रभाव विशेष दर्शनीय है। महाराजा रायसिंह का विवाह मेवाड़ के महाराणा उदयसिंह (1537-1572) की पुत्री जसमादे के साथ हुआ[18] तथा दूसरा विवाह सन् 1592 में जैसलमेर में हुआ, अतः बीकानेर शैली का भागवत् पुराण (1590 लगभग) जैसलमेर के कुंहरराज के लिए लिखित एवं चित्रित माधवानल कामकंदला (1603) तथा मेवाड़ शैली का विल्हण कृत चौर-पंचाशिका (1540) और नसीरुद्दीन द्वारा चित्रित चावंड की रागमाला (1605) के चित्रण में शैली-तकनीक और रंगों की दृष्टि से विशेष समता देखने को मिलती है।

बीकानेर के राजा कल्याणमल ने अपनी लड़की का विवाह महान अकबर से कर मुगलों से सम्बन्ध स्थापित किया। इस दृष्टि से बीकानेर के राजाओं का मुगल दरबार में महत्त्वपूर्ण स्थान था।[19] महाराजा रायसिंह ने सन् 1604 से 1611 तक दक्षिण में बुरहानपुर का गवर्नर रहकर कलाकृतियों का संग्रह किया। रागमाला चित्रावली इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

इस प्रकार बीकानेर शैली का प्रारम्भ 16वीं शती उत्तरार्द्ध से मानना चाहिये। धीरे-धीरे यह शैली अनेक सम्पर्कों के कारण विकसित होती हुई अपनी मौलिक दाय की ओर अग्रसर हुई।

बीकानेर शैली का दूसरा मोड़ महाराजा अनूपसिंह के समय (1669-98) से प्रारम्भ होता है, पर बीकानेर शैली की बीच की कड़ी भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं रही होगी। चित्रों की अनुपलब्धता के कारण इस समय के बारे में कुछ कह पाना कठिन है। जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में बीकानेर राजघराने का गहन सम्बन्ध रहा जिससे कला और कलाकारों का आदान-प्रदान स्वाभाविक था। सन् 1606 में नूर मोहम्मद पुत्र शाह मोहम्मद का बनाया बीकानेर शैली का सर्वाधिक पुराना व्यक्ति-चित्र है।[20] संग्रहालयों एवं निजी संग्रह में बहुत से ऐसे चित्र हैं जिनके माध्यम से इस समय के चित्रों का अध्ययन संभव है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शाहजहाँ के समय में मुसव्विरों की भरमार हो गयी थी, अतः कलाकार आश्रय पाने के लिए अन्यत्र जाने लगे। औरंगजेब की अनुदार नीति के कारण मुगल दरबार से कला निष्कासित होकर राजस्थान की रियासतों में प्रश्रय पाने लगी। बीकानेर का प्रसिद्ध उस्ता परिवार, जो मुगलकाल में लाहौर में केन्द्रित था, वह औरंगजेब के समय में महाराजा कर्णसिंह और अनूपसिंह के दरबार में बीकानेर आ गया। बीकानेर शैली के चित्रों में कलाकार का नाम उसके पिता का नाम और संवत् उपलब्ध होता है। उस्ता आसीरखाँ कर्णसिंह के समय (1650) में दिल्ली से बीकानेर आया और उत्तम चित्र बनाने लगा।

महाराजा अनूपसिंह स्वयं साहित्यिक एवं कलात्मक रुचि के व्यक्ति थे, अतः उन्होंने दिल्ली और लाहौर के कलाकारों का सम्मान किया।[21] वे चित्रकार मुगल शैली में पारंगत थे, पर बीकानेर आकर उन्होंने अनूपसिंह की रुचि के अनुकूल हिन्दू-कथाओं, संस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी काव्यों को आधार बनाकर सैकड़ों चित्र बनाये, जो राजपूती सभ्यता और संस्कृति से मिश्रित होकर बीकानेर शैली के उत्कृष्ट चित्र कहलाये। डॉ. रघुवीरसिंह का कथन है कि "महान् मुगलों के शासनकाल में जिस नूतन सम्मिश्रित भारतीय संस्कृति का उदय हुआ था, अब इन राज-दरबारों में उसी का पुनः समन्वय और विकास होने लगा।"[22] महाराजा अनूपसिंह के समय में यह विकास विशेष दर्शनीय है। उनके दरबारी मुसव्विर रुक्नुद्दीन का इस दृष्टि से योगदान महत्त्वपूर्ण है। उसने सैकड़ों चित्र (रंगीन चित्र-11) बनाये। केशव की रसिकप्रिया तथा बारहमासा के चित्र इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। उसका पूरा परिवार बीकानेर की कला के लिए समर्पित हो गया। उसके बेटे साहबदीन ने भागवत-पुराण के चित्र बनाये तथा उसके पोते कायम ने 18वीं शती प्रारम्भ में बीकानेर-शैली का चित्रण किया।

महाराजा अनूपसिंह के समय में मथेरण परिवार के मुन्नालाल, मुकुन्द, चन्दूलाल आदि ने भी बीकानेर शैली के विकास में विशेष योगदान दिया। मथेरण परिवार तथा उस्ता परिवार के कलाकारों ने कला-प्रेमी राजा अनूपसिंह के युग में बीकानेर शैली को चर्मोत्कर्ष पर पहुँचा दिया जिसके सचित्र-ग्रंथ तथा लघुचित्र राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली, बड़ौदा संग्रहालय तथा महाराजा बीकानेर करणीसिंह के निजी संग्रह में आज भी उपलब्ध हैं।

18वीं शती में बीकानेर शैली में तृतीय मोड़ आया। मुगलों के पतन के कारण बीकानेर शैली मुगल शैली से मुक्त हो गयी तथा आपसी विवाह सम्बन्धों के कारण जयपुर, बूँदी, मेवाड़, पहाड़ी आदि शैलियों का प्रभाव बीकानेर शैली पर आया। मारवाड़ स्कूल के अन्तर्गत होने के कारण किशनगढ़ शैली का प्रभाव इस समय के चित्रों में विशेष दर्शनीय है। इस समय ठेठ राजस्थान शैली में चित्र बने जो कला की दृष्टि से उत्तम हैं।

मथेरण परिवार के चितारों ने अपनी परम्परा को कायम रखा। उन्होंने जैन-ग्रंथों की अनुकृति, धर्मग्रंथों का लेखन एवं तीज-त्यौहारों पर राजाओं के व्यक्ति-चित्र बनाकर उन्हें भेंट किये। मुन्नालाल, मुकुन्द (1668), रामकिशन (1770), जयकिशन मथेरण, चन्दूलाल (1676) आदि चित्रकारों के नाम एवं संवत् अंकित चित्र आज भी देखने को मिलते हैं।[23]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इस समय के चित्रकारों में उस्ता परिवार के उस्ता कायम, कासिम, अबुहमीद, शाह मोहम्मद, अहमद अली, शाहबदीन, जीवन आदि प्रमुख हैं, जिन्होंने रसिकप्रिया, बारहमासा, रागरागिनी, कृष्ण-लीला, शिकार, महफिल तथा सामन्ती वैभव का चित्रण किया।

भित्ति-चित्रों की राजस्थानी परम्परा को बीकानेर शैली ने आगे बढ़ाया। बीकानेर किले के महल, लालगढ़ पैलेस, अनेक छतरियों आदि का भित्ति-चित्रण इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। बीकानेर में काष्ठ-पट्टिकाओं पर उत्कृष्ट चित्रण हुआ। राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली की किंवाड़-जोड़ी पर राधाकृष्ण की छवि का अंकन इस कथन का साक्षी है।[24] ऊँट की खाल पर चित्रण भी बीकानेर की निजी विशेषता रही है, जिस परम्परा को उस्ता परिवार आज तक निभा रहा है।

शैली की विशेषताएँ

बीकानेर राज्य का मुगल दरबार से गहन सम्बन्ध होने के कारण मुगल शैली की सभी विशेषताएँ बीकानेर की प्रारम्भिक चित्रकला में द्रष्टव्य हैं। कई समीक्षक तो इसे प्रान्तीय मुगल शैली (Provincial Mugal Style) का उप-रूप ही मानते हैं, किन्तु इकहरी तन्वंगी मृगनैनी कोमल ललनाओं का अंकन नीले-हरे और लाल रंगों का प्रयोग, शाहजहाँ और औरंगजेब शैली की पगड़ियों के साथ ही ऊँची मारवाड़ी पगड़ियाँ, ऊँट, हिरन तथा बीकानेरी रहन-सहन और राजपूती संस्कृति की छाप हमें उसे अलग शैली मानने को प्रेरित करती है।

बीकानेर के राजा अधिकतर दक्षिणी मोर्चों पर मुगलों के गवर्नर रहे, अतः दक्षिणी शैली का प्रभाव बीकानेर शैली पर सर्वाधिक है। लम्बी इकहरी नायिकाएँ, सरो और नारियल के वृक्षों का दक्खणी अंकन, उछलते फव्वारे, हरे रंग का प्रयोग विशेष दर्शनीय है। दक्षिणी मोर्चों से राजपूत सैनिक और कलाकार विजयनगर, गोलकुण्डा, अहमदनगर, मालवा होकर लौटते रहे, अतः वहाँ की कला का प्रभाव होना स्वाभाविक था।

बीकानेर शैली में रेखाओं की गत्यात्मकता, कोमलांकन तथा बारीक रेखांकन विशेष हुआ है। रेखाओं का संयोजन प्रभावशाली बन पड़ा है। चटक रंगों के स्थान पर कोमल रंगों का प्रयोग हुआ है। लाल, बैंगनी, जामुनी, सलेटी, बादामी रंगों का प्रयोग शैली की विशेषता रही है। मोतियों के आभूषण बीकानेर शैली में अत्यधिक अंकित किये गये हैं। पहनावे में मुगल एवं राजपूती सम्मिश्रण है। किशनगढ़ शैली के समान लम्बी तन्वंगी नायिकाएँ, खंजन पक्षी से तीखे नेत्र, तंग कंचुकी, घेरदार घाघरे तथा भेड़, बकरी, ऊँट, कुत्ते, कुँज, सारस और मरुस्थल का चित्रण 18वीं शती की बीकानेर शैली में अधिक मिलता है। इसके बाद की शैली में झालरदार बादलों का अंकन, चन्द्रमहल, लालनिवास, सरदार महल आदि के भित्ति-चित्रों में विशेष दर्शनीय है। बालू के टीलों का अंकन चीनी और ईरानी कला से प्रभावित मेघ-मण्डल, पहाड़ों और फूल-पत्तियों का आलेखन उल्लेखनीय है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बीकानेर शैली को मथेरण एवं उस्ता परिवार ने पल्लवित एवं पुष्पित किया। मथेरण की ग्वाड़ में आज भी उनके वंशज शादी-विवाह पर घरों में चित्रांकन करते हैं तथा उस्ता परिवार के चिराग श्री हिस्सामुद्दीन उस्ता ऊँट की खाल पर चित्रकारी कर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुके हैं।

किशनगढ़ शैली

राजस्थानी चित्रकला में किशनगढ़ शैली का विशिष्ट स्थान है। मारवाड़ स्कूल की प्रमुख चित्रशैली होने का इसे श्रेय प्राप्त है। अजमेर के पास अवस्थित भूतपूर्व छोटी-सी स्टेट किशनगढ़ के राजदरबार में पोषित चित्रशैली के नाम से प्रख्यात है जिसको प्रकाश में लाने का श्रेय विद्वान एरिक डिकिन्सन और डॉ. फैयाज़ अली को है।[25] स्वर्गीय एरिक डिकिन्सन अलीगढ़ विश्वविद्यालय और बाद में राजकीय कॉलेज, लाहौर में अंग्रेजी के प्रोफेसर रहे। सन् 1943 में वे जब मेयो कॉलेज, अजमेर में शैक्षणिक भ्रमण के लिए आये तो उन्होंने किशनगढ़ राजघराने के चित्रकला के खजाने को देखा। अगले ही वर्ष वे विधिवत् वहाँ की चित्रकला का अध्ययन करने के लिए आये और किशनगढ़ के चित्रों को देखकर स्तंभित रह गये। विषय-वस्तु, शारीरिक बनावट, रंग-संयोजन आदि की दृष्टि से ये चित्र अन्य शैलियों से विशिष्ट एवं अलग पाये गये। उन्हीं के प्रयत्नों से राष्ट्रीय संग्रहालय में कुछ चयनित चित्रों की प्रदर्शनी लगाई गयी और तभी से किशनगढ़ की चित्रकला की देश-विदेशों में ख्याति फैल गयी।[26]

विकास

किशनगढ़ राज्य की नींव जोधपुर राज्य के राठौरवंशी राजा उदयसिंह के आठवें पुत्र किशनसिंह ने सन् 1609 में डाली। राजा किशनसिंह को बादशाह जहाँगीर द्वारा एक हजार पैदल और पाँच सौ घुड़सवारों का मनसब प्रदान किया गया। जोधपुर राज्य तथा मुगल दरबार से सम्बन्धित होने के कारण यहाँ के राजा राजसी वैभव और कलात्मक जीवन से पूर्व परिचित थे। मारवाड़ स्कूल की उन्नत शाखा किशनगढ़ शैली ने एक शतक उपरान्त राजा सावंतसिंह के समय में अपने उत्कर्ष पर पहुँचकर राजस्थानी चित्रकला में अपना मौलिक एवं उत्कृष्ट स्थान बना लिया।

पीढ़ी के पाँचवें राजा रूपसिंह (1643-1658) ने सामरिक कठिनाइयों के कारण रूपनगर को अपनी राजधानी बनाया जो राजा सावंतसिंह के समय तक रही। राजा रूपसिंह विद्या-प्रेमी और भक्त-हृदय थे। उन्होंने अपने पूर्वजों की भाँति वल्लभकुल सम्प्रदाय की दीक्षा ली तथा राधाकृष्ण की भक्ति को अपने जीवन और मोक्ष का साध्य समझा। सामयिक चित्रकारों ने अपने स्वामी की प्रसन्नता के लिये राधा-माधव की लीलाओं को चित्रण द्वारा साकार करना प्रारम्भ किया।[27]

रूपसिंह के उपरान्त राजा मानसिंह (1658-1706) गद्दी पर बैठे। वे स्वयं कवि और कला-मर्मज्ञ थे। प्रसिद्ध कवि वृन्द से इन्होंने कविता का अभ्यास किया। वैष्णव भक्त होने के कारण भक्ति सम्बन्धी विषयों में भी इनकी विशेष रुचि थी। वे चित्रकला में भी विशेष रुचि रखते थे। किशनगढ़ कपड़-भण्डारों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

में कुछ चित्र इनके समय के उपलब्ध थे।[28] यहाँ की चित्रकला के विकास में इनके पुत्र राजसिंह (1706-1748) का प्रमुख योग रहा। राजसिंह परमवीर, धर्म-परायण, कलारसिक एवं स्वयं चित्रकार थे। इनके द्वारा रचित 33 ग्रंथ हैं जिनका प्रभाव तत्कालीन अन्य कलाकारों पर भी पड़ा।[29] इसी समय से कुँवर पदी पर आरूढ़ राजा सावंतसिंह (भक्तवर), नागरीदास (जन्म 1699) पर उनके पिता की कला-प्रियता का पूर्ण प्रभाव पड़ा। उनकी शिक्षा-दीक्षा पिता की रुचि के अनुसार कलात्मक वातावरण में हुई। संस्कृत और संगीत का भी उन्हें पूर्ण अभ्यास था। वे चित्रकला में भी विशेष रुचि रखते थे। किशनगढ़ दरबार के निजी संग्रह में उपलब्ध चार रेखाचित्र इस कथ्य के साक्षी हैं।

काव्य के प्रति राजा सावंतसिंह की रुचि प्रारम्भ से ही थी। सन् 1723 से 1731 तक उन्होंने मनोरथ मंजरी, रसिक-रत्नावली और बिहार-चन्द्रिका की रचना कर कृष्ण-भक्ति-काव्य के विस्तार में विशेष योगदान दिया।[30] अपने पूर्वजों की भाँति वे भी वल्लभ-सम्प्रदाय में अपने गुरु श्री रणछोड़जी द्वारा दीक्षित थे। राज्य-वैभव के प्रति उदासीन होकर उन्होंने काव्य-चित्रण और संगीत द्वारा अपने कलात्मक वैभव से किशनगढ़ शैली को एक नवीन मोड़ दिया।

18वीं शती के मध्य में बने चित्रों में शैली की नवीनता और उत्फुल्लता प्राप्त होती है जिसमें राधाकृष्ण के माधुर्य भाव को नवीन रूप में चित्रित किया गया। उपर्युक्त रूप प्रदान करने का श्रेय तत्कालीन दरबारी चित्रकार मोरध्वज निहालचन्द को है जिनके बनाये सैकड़ों चित्र इस शैली की अमूल्य निधि है। निहालचन्द के पितामह सूरध्वज मूलराज दिल्ली से आकर राजा मानसिंह के दीवान हुए तथा आगे भी उनकी पीढ़ी के चितारों ने किशनगढ़ शैली के विकास में योगदान दिया। निहालचन्द ने अपनी रंजक और सूक्ष्म तूलिका से नागरीदास के काव्य का चित्रण सन् 1735 से लेकर 1757 तक किया। नागरीदास के वृन्दावन वास के उपरान्त भी मुसव्विर निहालचन्द का चित्रांकन राज्य में चलता रहा, किन्तु परवर्ती चित्रण में वह काव्यात्मक जादू प्रायः पतनोन्मुख हो गया।

इस समय की चित्रकला से बणी-ठणी और नागरीदास के प्रेम को जोड़ा जाता है, पर यह ऐतिहासिक तथ्य नहीं है। भूतपूर्व किशनगढ़ दरबार ने इस बात को नकारते हुए कहा है कि, "बणी-ठणी राज्य की गायण थी जिसका राज्य परिवार में माँ या बहिन के समान सम्मान था। यह बात दूसरी थी कि बणी-ठणी स्वयं संगीतज्ञ और कवयित्री थी, जिसका प्रभाव तत्कालीन चित्रण पर रहा होगा।"[31]

दीवान सूरध्वज मूलराज के वंशजों ने किशनगढ़ की कला को महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है (रंगीन चित्र न. 7) जिसमें सीताराम और बदनसिंह का नाम उल्लेखनीय है। अमरू और सूरजमल का चित्रण भी नागरीदासजी के समय का ही है। नागरीदासजी के भाई बहादुरसिंह के राज्यकाल में भी नानकराम चितेरे ने अनेक चित्र बनाये। राजा बिड़दसिंह (1782-1788) के समय नानकराम के वंशज रामनाथ तथा जोशी सवांई राम का कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। राजा कल्याणसिंह के काल (1798-1838) के लाड़लीदास नामक चित्रकार ने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किशनगढ़ शैली के विकास में विशेष योग दिया। शैली के प्रसिद्ध गीतगोविन्द का चित्रण भी इसी समय (1820) में हुआ।

किशनगढ़-शैली की वह अलौकिकता धीरे-धीरे विलीन होने लगी और विकृत स्वरूप सामने आने लगा, जो 19वीं शती में पृथ्वीसिंह के समय (1840-1880) के चित्रों में दिखाई पड़ता है। इसके उपरान्त अपना अमर इतिहास पीछे छोड़कर किशनगढ़ शैली धीरे-धीरे पतनोन्मुख हो गयी।

विशेषताएँ

किशनगढ़ शैली की कुछेक ऐसी विशेषताएँ हैं, जो इसे विभिन्न शैलियों से अलग ही नहीं करती वरन् उच्च आसन पर आरूढ़ करती हैं। नर-नारियों के अंग-प्रत्यंगों का अलौकिक अंकन, प्रकृति के विराट रंगमंच का रंगीला-चित्रण, रंगों का मिश्रित वैभव, राधाकृष्ण सम्बन्धी विषय का अनूठा और काव्यात्मक अंकन आदि विशेषताएँ उपर्युक्त शैली में अपना महत्त्व रखती हैं।

पुरुषाकृति में लम्बा छरहरा नील छवियुक्त शरीर, जटाजूट की भाँति ऊपर उठी हुई मोती की लड़ियों से युक्त श्वेत या मूँगिया पगड़ी, समुन्नत ललाट, लम्बी नासिका, मधुर स्मित से युक्त हिगुली, पतले से अधर और खंजनाकृत कर्णान्तं तक खिचे हुए विशाल अरुणाभ नयन किशनगढ़ शैली की अपनी निजी विशेषताएँ हैं। सारे मुखमण्डल में नेत्र इतने प्रमुख रहते हैं कि दर्शक की प्रथम दृष्टि वहीं पर मँडराने लगती है। नुकीली चिबुक, लम्बी सुराहीदार गर्दन, आजानुभुजाएँ; गोल और सुकुमार लम्बी अंगुलियाँ, पतली कमर, पैरों तक झूलता पारदर्शी जामा तथा अलंकारों और फ़ूलों से आवेष्टित सारा शरीर किशनगढ़ शैली में अनोखा है।

नारी आकृति में भी प्रायः उपर्युक्त ही नारी सुलभ लावण्य दर्शनीय है। गौरवर्ण बाँके कज्जल से युक्त विशाल नयन, कपोलों को आच्छादित करती हुई लम्बी अलकें, अर्द्ध-विकसित किन्तु उन्नत और खिंचा हुआ वक्षस्थल, लहँगा, कंचुकी और ओढ़नी से लिपटा तथा अलंकारों और फूलों से (रंगीन चित्र-7) सुसज्जित शरीर। सुकोमल हाथ में एक-दो अर्द्ध-मुकुलित कमल की कलियाँ, राधा के बहाने नायिका के रूप-यौवन को उजागर करते हैं। किशनगढ़ शैली में काव्य में कल्पित रूप तथा माँसल सौन्दर्य का चित्रांकन जादूभरा है।

किशनगढ़ शहर तथा रूपनगढ़ का प्राकृतिक परिवेश जिस प्रकार झीलों, पहाड़ों, उपवनों और विभिन्न पशु-पक्षियों से युक्त रहा है, उसके अनुकूल ही उद्दीपन रूप में प्रकृति का चित्रण भी शैली में अनोखा हुआ है। दूर-दूर तक फैली हुई झील, झील में केलि करते हंस, बतख़, जलमुर्गाबी, सारस, बगुला और तैरती हुई नौकाएँ तथा नौकाओं में प्रेमालाप करते राधा और कृष्ण का अंकन अनोखा है।

उच्च अट्टालिकाएँ, उनमें झाँकती श्वेत मुंडेरें, फव्वारे, केले के वृक्षों से घिरे दृश्य तथा कमल दलों से ढँके जलाशय आदि सब कुल मिलाकर

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किशनगढ़ शैली को मोहक बना देते हैं। प्रकृति के विस्तृत प्रांगण को चित्रित करने का श्रेय किशनगढ़ शैली को ही है। यही चित्रण बूँदी शैली में– सीमित क्षेत्र में हुआ है। चाँदनी रात में राधाकृष्ण की केलि-क्रीड़ाएँ, प्रातःकालीन और सांध्यकालीन बादलों का सिन्दूरी चित्रण शैली में विशेष हुआ है।

किशनगढ़ शैली में रंगों का अपना खेल है। राधाकृष्ण के सुकोमल भावों को चित्रित करने के लिए यहाँ के कलाकारों ने अधिकतर हल्के रंगों का प्रयोग किया है। यहाँ के प्रमुख रंग सफेद, गुलाबी, सलेटी और सिन्दूरी हैं। हाशिए में गुलाबी और हरे रंगों का बाहुल्य किशनगढ़ शैली की अपनी देन है।

विषय

वल्लभ-सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण अधिकतर किशनगढ़ के राजाओं के समय में राधाकृष्ण की प्रेम-लीलाओं का चित्रण ही अधिक हुआ है। भागवत पुराण, गीत-गोविन्द, नागरीदास जी के विभिन्न पद तथा वैभव-विलास और अन्य स्वच्छन्द शृंगारी-भाव शैली के चित्रण के आधार रहे हैं। अन्य शैलियों की भाँति शिकार, उत्सव, होली, दीपावली, दरबार, महफिल आदि पर भी अनेक चित्र निर्मित हुए हैं। बणीठणी अर्थात् राधा के रूप-सौन्दर्य का चित्रांकन शैली का विशेष आकर्षण रहा है। आश्चर्य की बात है कि राग-रागिनियों का चित्रण किशनगढ़ शैली में अनुपलब्ध है।

यह बात अवश्य है कि किशनगढ़ शैली के चित्र बूँदी शैली की भाँति बहुलता से उपलब्ध नहीं होते, किन्तु जितने भी अब तक उपलब्ध हुए हैं, उनके आधार पर किशनगढ़ जैसी छोटी-सी स्टेट की अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति हो गयी है। किशनगढ़ शैली के प्रारम्भिक और 19वीं शती के अंतिम चित्रों में राजस्थानी चित्रकला का सामान्यीकरण देखने को मिलता है, किन्तु राजा सावंतसिंह अर्थात् नागरीदासजी के समय में काव्य, संगीत और चित्रकला के समन्वयात्मक स्वरूप ने एक रोमांचक वातावरण निर्मित किया, जिसे दीवान सूरध्वज मूलराज के वंशज चित्रकार मोरध्वज निहालचन्द्र ने किशनगढ़ शैली में एक तीखापन और रंजकता प्रदान की। नागरीदासजी के काव्यात्मक भावों की अभिव्यक्ति को राधा के चित्रांकन ने नवीन मोड़ दिया, जिससे किशनगढ़ शैली की राजस्थानी चित्रकला में एक अलग पहचान कॉयम हो गयी। यही आधार है जिसके कारण श्री फैयाज़ अली जैसे कला-मर्मज्ञ किशनगढ़ की कला को अलग स्कूल मानते हैं, किन्तु किशनगढ़ राज्य मारवाड़ की सामंती-राठौड़ी परम्परा का ही एक अंग रहा है; इसलिए किशनगढ़-शैली मारवाड़ स्कूल की ही एक अनुपम धरोहर मानी जानी चाहिए।

मारवाड़ स्कूल की अन्य शैलियाँ, उपशैलियाँ तथा ठिकाणा कला

मारवाड़ एक वृहद् सांस्कृतिक इकाई है जिसमें अनेक देशी रियासतों, ठिकाणों का कलात्मक दाय की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। उपयुक्त कला-शैलियों के अतिरिक्त भी अजमेर, नागौर, जैसलमेर, सिरोही जैसी रियासतों एवं खरवा भिनाय, मसूदा, घाणेराव, जूनियाँ जैसे ठिकाणों में भी चित्रकला पुष्पित और पल्लवित होती रही है, पर उन पर अभी भी बहुत अधिक खोजबीन नहीं हो

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पायी है । अध्ययन करने से पता चलता है कि एक ही सांस्कृतिक मण्डल में होने के कारण इनकी कला पर मारवाड़ स्कूल की छाया विशेष द्रष्टव्य है ।

अजमेर शैली

मारवाड़ के वृहद् क्षेत्र में विभिन्न चित्र-शैलियों की भाँति अजमेर शैली का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है, पर कला-क्षेत्र में उसकी विस्तृत चर्चा बहुत कम हुई है । कुमार संग्रामसिंह के निजी संग्रहालय में अजमेर शैली के अनेक प्रमाणित चित्र उपलब्ध हैं जिनके आधार पर स्वयं कुमार संग्रामसिंह ने समय-समय पर प्रकाश डाला है ।[32]

वास्तव में, भौगोलिक, ऐतिहासिक और धार्मिक दृष्टि से अजमेर की राजस्थान में महत्त्वपूर्ण स्थिति रही है जिसके फलस्वरूप यहाँ कला और संस्कृति का समन्वयात्मक स्वरूप उभर कर आया । साथ ही आसपास का क्षेत्र भी यहाँ से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका । कर्नल टॉड ने इसे राजस्थान की कुंजी कहा है ।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई धर्म का समन्वय जितना अजमेर में देखने को मिलता है, वह अन्यत्र नहीं । प्राचीनतम हिन्दू तीर्थ-स्थलों में पुष्कर का नाम अग्रणी रहा है, जहाँ भारतीय संस्कृति ने समृद्धशाली रूप ग्रहण किया । छठी शताब्दी में अजयपाल चौहान ने अजमेर बसाया और इस प्रकार सन् 551 से 1195 तक वीर एवं कला-प्रेमी चौहान राजाओं का राजस्थान के केन्द्र में आधिपत्य रहा । 14वीं शताब्दी से यह प्रदेश देहली, गुजरात और मालवा के सुल्तानों के आधिपत्य में रहा । ख्वाजा मोइनुद्दीन चिश्ती महान् सूफी संत हुए, जिन्होंने अजमेर को सूफियाना रंग में रंगकर धार्मिक समन्वय स्थापित किया । महान् मुगलों ने राजस्थान की राजनीति को काबू में रखने के लिए अजमेर को केन्द्र बनाया । सन् 1559 से महान् अकबर ने दरगाह शरीफ में पदार्पण किया और यह क्रम पीढ़ियों तक धर्म एवं राजनीति के बहाने चलता रहा । प्रथम पुत्र की प्राप्ति के बाद सन् 1570 में अकबर आगरा से पैदल चलकर उर्स में सम्मिलित होने के लिए आया तथा अकबरी मस्जिद का निर्माण कराया । सन् 1613 से 1616 के बीच जहाँगीर अधिकतर अजमेर रहा । शाहजहाँ और औरंगजेब ने भी अपनी गतिविधियों का केन्द्र अजमेर को बनाये रखा । इस प्रकार दरगाह शरीफ मुस्लिम संस्कृति का मक्का-मदीना के उपरान्त महत्त्वपूर्ण धार्मिक एवं सांस्कृतिक केन्द्र बन गया ।

राजस्थान की राजनैतिक गतिविधियों को मुगल बादशाहों ने अजमेर से ही संचालित किया । मुगलों के पतन के बाद सन् 1707 के बाद से अजमेर मारवाड़ के अधीन रहा । लगभग अर्द्ध-शती तक मराठाओं ने और 129 वर्ष तक अंग्रेजों ने राजस्थान के हृदय अजमेर को अपनी गतिविधियों का केन्द्र बनाये रखा । इस प्रकार हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई संस्कृति का समन्वयात्मक स्वरूप अजमेर में प्रारम्भ से ही देखने को मिलता है, जिसका सीधा प्रभाव स्थानीय कलाओं पर ही नहीं वरन् संपूर्ण राजस्थान की कलात्मक गतिविधियों पर पड़ा ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्रकला का विकास

राजस्थान की अन्य चित्र-शैलियों की भाँति अजमेर भी चित्रकला का प्रमुख केन्द्र रहा तथा उसने आसपास के क्षेत्र को अपनी सांस्कृतिक गतिविधियों से प्रभावित किया। अन्य रियासतों के विपरीत राजनैतिक उथल-पुथल तथा धार्मिक प्रभावों के कारण यहाँ चित्रण के आयाम बदलते रहे। अजमेर शहर में जहाँ दरबारी एवं सामंती संस्कृति का अधिक प्रभाव रहा, वहीं ग्रामों में लोक-संस्कृति तथा ठिकाणों में राजपूत संस्कृति का वर्चस्व बना रहा।

यहाँ के प्रारम्भिक चित्रों में राजस्थानी और जैन-शैली का प्रचलित स्वरूप जहाँ दर्शनीय है, वहीं मुगलों के आगमन के बाद मुगल स्कूल का प्रभाव विशेष देखने को मिलता है। 'अकबरनामा'[33] में बहुत से ऐसे चित्र भी हैं, जो अकबरी दरबार के प्रसिद्ध चित्रकार बसावन तथा नन्दग्वालियरी द्वारा चित्रित किये गये हैं, जिनमें अकबर महान् की दलबल सहित पैदल यात्रा और दरगाह शरीफ में जियारत को प्रदर्शित किया गया है। जहाँगीर और शाहजहाँ के समय में मुगलिया बन्दोबस्त के कारण बहुत से मुगल शैली के चित्रकारों का भी यहाँ संतरण होता रहा, जिसके फलस्वरूप कला पर जहाँगीरी प्रभाव और शाहजहाँ के समय का बारीक पच्चीकारी, मीनाकारी जैसा कार्य भी चित्रण में समाविष्ट हो गया।

शाहजहाँ के समय में जोधपुर के राठौरों की परम्परा से सन् 1690 में किशनगढ़ स्टेट का आविर्भाव हुआ, जिसके फलस्वरूप अजमेर शैली की परम्परा ने किशनगढ़ और रूपनगढ़ की कला को भी प्रभावित किया। कुमार संग्रामसिंह का मानना है कि अजमेर कलम से ही किशनगढ़ शैली का आविर्भाव हुआ, जिसमें मारवाड़ की सांस्कृतिक परम्परा अक्षुण्ण रूप से जुड़ी रही, साथ ही अजमेर की सीमा पर लगे हुए टोडारायसिंह एवं बदनोर-सावर जैसे स्थानों पर भी अजमेर शैली की परम्परा में ही बहुतायत से चित्रण हुआ।[34] आज भी इस तथ्य को ध्यान में रखकर चित्रकला के विकास पर विचार करने की बहुत गुंजाइश है।

औरंगजेब की कट्टर नीति के कारण धीरे-धीरे राजस्थान पर मुगल सल्तनत का प्रभाव कम होने लगा। अजमेर पर भी जोधपुर के राजाओं का आधिपत्य हो गया। सन् 1707 में महाराजा अजीतसिंह के समय से अजमेर कलम पर जोधपुर शैली का प्रभाव पड़ने लगा। इस्तमरारी बन्दोबस्त में आसपास के ठिकाणे प्रभावशाली हो गये और वहाँ भी स्वच्छंद रूप से चित्रकला विकसित होने लगी। किशनगढ़, रूपनगढ़, फतहगढ़ आदि स्थानों के प्रारम्भिक चित्रों में अजमेर-शैली का पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है।[35] इससे यह बात निश्चित होती है कि राजसी प्रश्रय के कारण अजमेर के कलाकारों ने किशनगढ़ शैली के विकास में महत्त्वपूर्ण योग दिया। सन् 1750 के आसपास नागौर के राजा बखतसिंह ने नागौर के किले में जो भित्ति-चित्रण करवाया, उसमें भी अजमेर के कलाकारों का योगदान विचारणीय है।

भिणाय, सावर, मसूदा, जूनियाँ जैसे ठिकाणों में चित्रण की परम्परा ने अजमेर-शैली के विकास और संवर्द्धन में विशेष योग दिया। इन ठिकाणों में अनेक कलाकार चित्रण करते थे जिनमें से जूनियाँ का चाँद, सावर का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तैयूयब, नौंद का रामसिंह भाटी, जालजी एवं नारायण भाटी खरवा से, मसूदा से माधोजी एवं राम तथा अजमेर के अल्लाबक्स, उस्ना और साहिबा स्त्री चित्रकार विशेष उल्लेखनीय हैं। इस प्रकार सैकड़ों चित्रकार अजमेर और अजमेर के आसपास के महत्त्वपूर्ण ठिकाणों में चित्रकारी करते रहे हैं।

लगभग 50 वर्ष तक मराठाओं का और सवा सौ वर्ष तक अंग्रेजों का अजमेर पर आधिपत्य होने के कारण यहाँ की कला पर कंपनी शैली का पूर्ण प्रभाव रहा। यहाँ के साधारण कामगार लोगों के चित्रण के साथ ही ईसाई धर्म से संबंधित विषयों पर भी विस्तार से चित्र बनने लगे, जिनका प्रभाव राजस्थान के अन्य भागों पर भी पड़ा।

अजमेर शैली के सर्वाधिक चित्र कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय में उपलब्ध होते हैं जिन पर कलाकार का नाम और तिथि अंकित हैं। जूनियाँ के चाँद जैसे प्रसिद्ध कलाकार के चित्र तो अजमेर शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। अन्य संग्रहालयों एवं भिणाय, मसूदा ठिकाणों में भी चित्र उपलब्ध हैं, पर आज उनकी खोजबीन करने की आवश्यकता है।

अजमेर-शैली के चित्रों की विशेषता

अपनी विशिष्टताओं के कारण अजमेर शैली की पहचान अलग है। पुरुषाकृति लंबी, सुन्दर, संभ्रान्त एवं ओज को अभिव्यक्त करने वाली। न तो उनके चित्रण में किशनगढ़ की भाँति तीखापन और लालित्य है और न ही स्त्रैणता। वीरोचित श्वेत जामा, कमरबंद और मुगल मारवाड़ी मिश्रित पगड़ी से सुसज्जित पुरुषाकृतियाँ मारवाड़ स्कूल की सही पहचान कराती हैं। सर पर तुर्रा-कलंगी, सरपेच, कानों में कुंडल, बाली, गले में मोतियों का हार, माथे पर वैष्णवी तिलक, हाथ में तलवार, कमर में कटार तथा पैरों में मोचड़ी धारण किये अजमेर शैली के सामंत कला के उत्तम उदाहरण हैं। जूनियाँ के चाँद द्वारा अंकित राजा पाबूजी का सन् 1698 का निर्मित व्यक्ति-चित्र इस कथन का सुन्दर उदाहरण है।[36]

बीकानेर शैली की भाँति नारी अंकन में अजमेर शैली के कलाकारों ने लावण्यमय लंबा इकहरा शरीर अंकित किया है। जहाँ हिन्दू स्त्रियाँ लहँगा, ओढ़नी, कंचुकी पहने प्रदर्शित की गयी हैं, वहीं मुस्लिम स्त्रियाँ पायजामा, पारदर्शी जामा, दुपट्टा पहने अंकित की गयी हैं। आभूषणों में टीका, बाली, बेसर-टेवटा, गलसरी, हाथों में पहुँची, भुजबंद, चूड़ियाँ और पैरों में नेवरी, पायजेब, जूरकारा आदि से सुसज्जित नारी का अंकन बारीकी और सधी हुई कलम से किया गया है। ठिकाणों की कला में राजस्थानी पहनावे का और शहरी कलम में मुगलई प्रभाव विशेष द्रष्टव्य है।

अजमेर कलम की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि वह एक स्थान पर ही केन्द्रित नहीं रही, वरन् छोटे-छोटे ठिकाणों और साधारण जन तक भी उसकी पहुँच रही, जिसमें समय-समय पर सैकड़ों कलाकारों ने काम किया। यही एक ऐसी कलम रही जिसको हिन्दू, मुस्लिम और क्रिश्चियन धर्म का समान प्रश्रय मिला।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नागौर शैली

ऐतिहासिक तथा भौगोलिक दृष्टि से नागौर प्रदेश एक महत्त्वपूर्ण स्थल रहा है। सांस्कृतिक समन्वय की दृष्टि से भी नागौर का कम महत्त्व नहीं है। नागौर की स्थापना सपादलक्ष के चौहानों ने की। उस समय के मंदिर एवं मूर्तिकला विशेष उल्लेखनीय हैं। मुस्लिम काल में मुहम्मद गजनवी बाहलीम ने इसे स्वतंत्र राज्य घोषित किया। मुगल सल्तनत तथा बीकानेर, जोधपुर राज्य के अन्तर्गत नागौर में सांस्कृतिक उलटफेर होता रहा। अन्ततोगत्वा जोधपुर के शासक अजीतसिंह (1707-24) ने अपने छोटे पुत्र बख्तसिंह को नागौर का अधिकार सौंपकर उसे अलग राज्य बना दिया।

इस दृष्टि से नागौर की चित्रकला का विकास भी 18वीं शती प्रारम्भ से ही माना जाना चाहिए। यों भी नागौर-शैली के लघुचित्र अभी तक बहुत कम उपलब्ध हुए हैं। बीकानेर, जोधपुर और मुगल प्रभाव के कारण उनकी पहचान की भी समस्या बनी रही है। राष्ट्रीय संग्रहालय, नई दिल्ली, पिक्चर एण्ड आर्ट गैलरी, बड़ौदा, कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर, चौपासनी शोध संस्थान, जोधपुर आदि के लघुचित्रों और नागौर किले के महलों के भित्ति-चित्रों (श्वेत श्याम चित्र-7) के आधार पर नागौर-शैली का अध्ययन किया जा सकता है।

उपर्युक्त संग्रहालयों एवं व्यक्तिगत संग्रहों में जो चित्र मिलते हैं, वे भी तिथियुक्त एवं ऐतिहासिक तथ्यों से विहीन होने के कारण नागौर शैली के संविधान को स्थापित करने में बाधक हैं, पर फिर भी घोड़े की सवारी करते राजा और सामंत, नायक-नायिकाएँ, दरबारी दृश्य, वृद्धावस्था के व्यक्ति-चित्र विशेष उपलब्ध हुए हैं जिनमें जोधपुर, बीकानेर, मुगल तथा दक्खनी शैली का मिलाजुला ऐसा प्रभाव उपस्थित हुआ है, जिसने नागौर शैली की स्थापना की है।

नागौर-शैली का सही और सर्वाधिक स्वरूप नागौर किले के महलों के भित्ति-चित्रों में विशेष द्रष्टव्य है। बादल महल और शीशमहल के भित्ति-चित्र अनुमानतः 18वीं शती मध्य में बने हैं जिनमें राजसी ठाटबाट और जनजीवन का मिश्रित स्वरूप आज भी दर्शनीय है। 'वृक्ष की छाँह में संगीत सुनते युगल-नायिकाएँ', 'उद्यान के महल में मनोरंजन करती स्त्रियाँ', राजसी दरबार, घोड़ों का सुघड़ चित्रण, बादल महल की सज्जापूर्ण छत और बेल-बूँटों के बीच जहाँगीरी कलम की तरह उड़ती हुई परियों का चित्रण अत्यधिक मनोहारी बन पड़ा है। प्रकृति-परिवेश का चित्रण भी नागौर के परिदृश्य के अनुकूल ही हुआ है। नागौर के महलों की कपाट जोड़ियों पर भी कभी लाक्ष का चटकदार अंकन हुआ है। जनाना महल के चित्रों में भी नारी सबीहों का बहुलता से अंकन हुआ है। हरम का जीवन, जलाशय में स्नान, हुक्का पीती मुगल शैली से प्रभावित नायिकाएँ, नृत्य और गायन करती तथा वाद्य बजाती गणिकाएँ-नायिकाएँ आदि का अंकन विशेष दर्शनीय है। निश्चय ही अजमेर के कलाकारों ने यहाँ आकर कार्य किया।

चूँकि नागौर-शैली में जोधपुर, बीकानेर, अजमेर, मुगल और दक्खनी शैली का मिलाजुला प्रभाव है, अतः नायक-नायिकाओं की लंबी आकृतियाँ, छोटी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

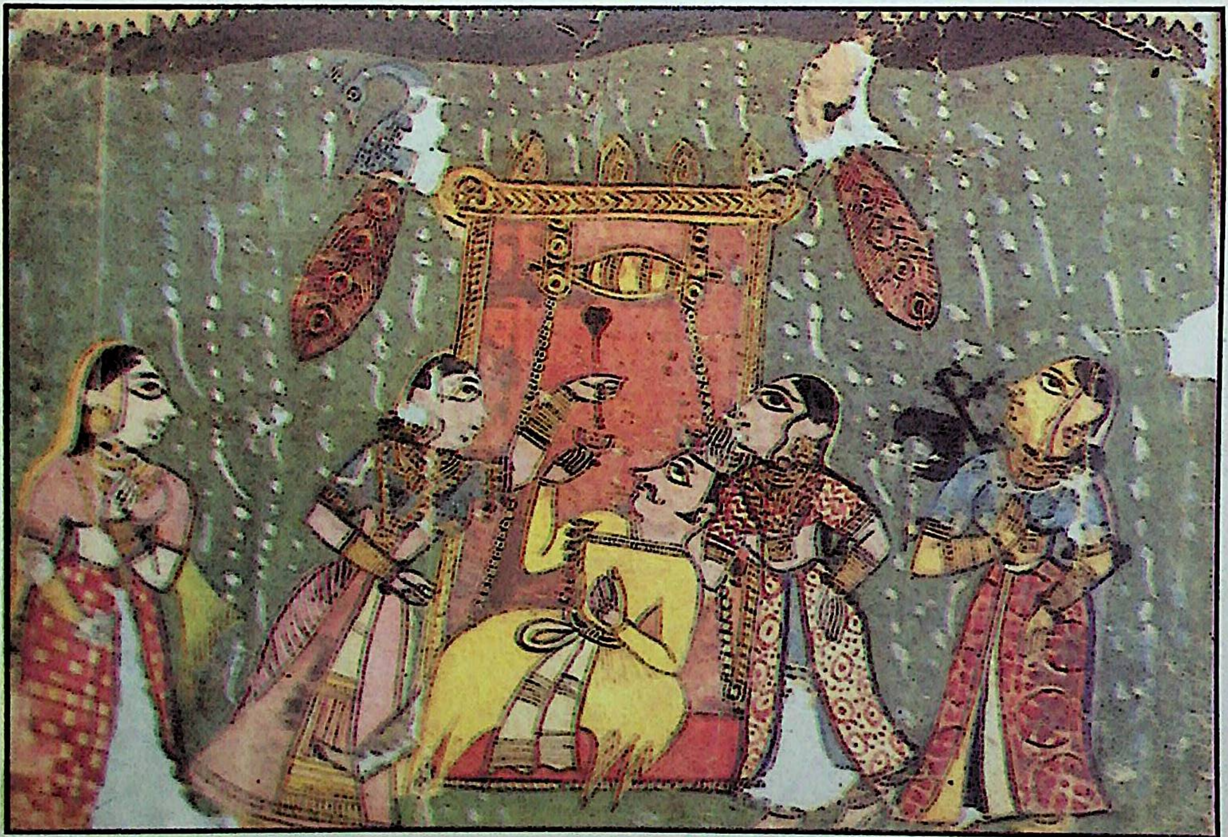

चित्र 5 : राग मेघ : पाली शैली, सन् 1623, चित्रकार वीरजी
(कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

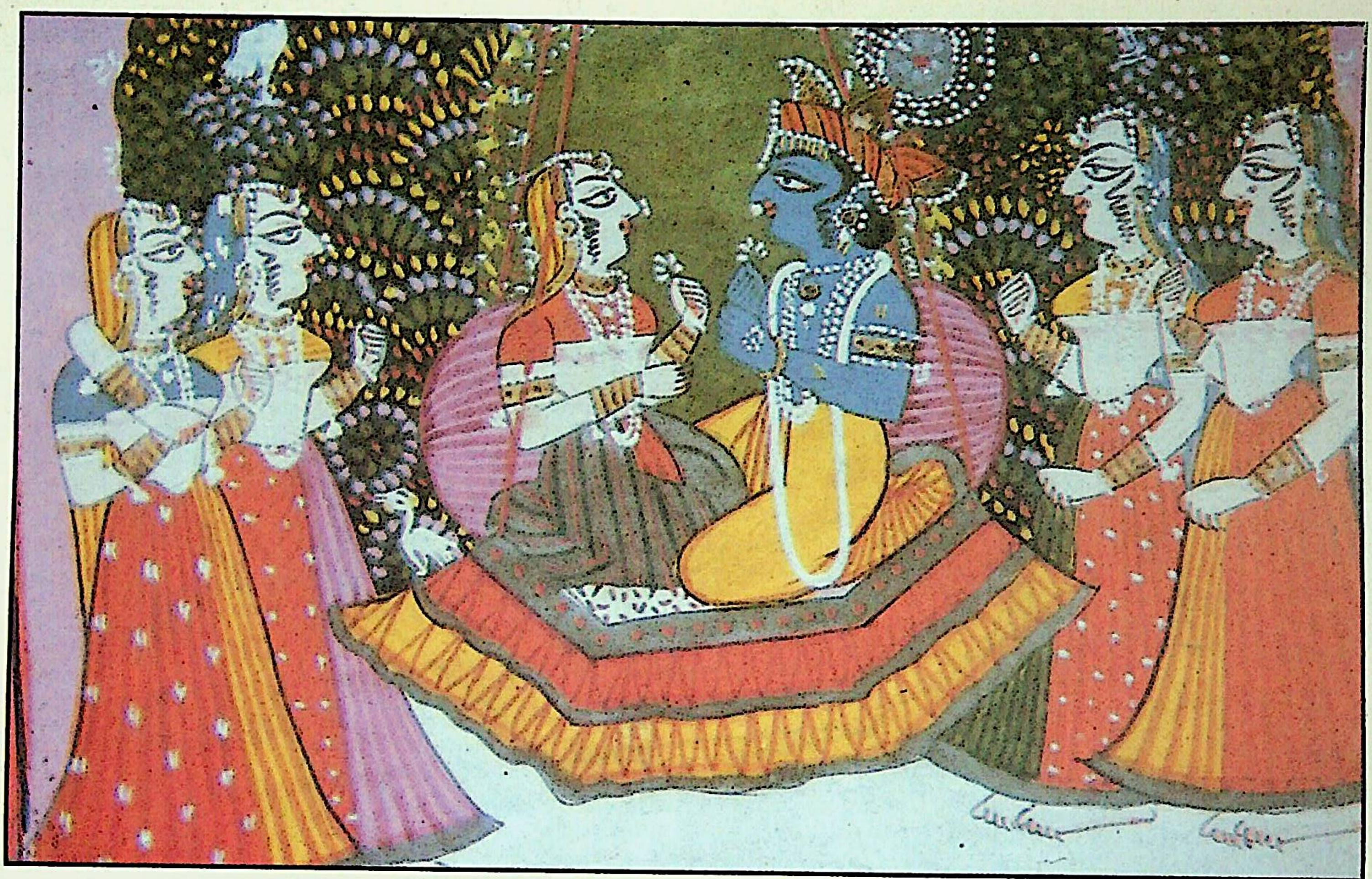

चित्र 6 : हिंडौले में राधा-कृष्ण : वेली कृष्ण-रुक्मिणी सचित्र ग्रन्थ से, वि.सं. - 1876/ (1819)
(प्राच्य-विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

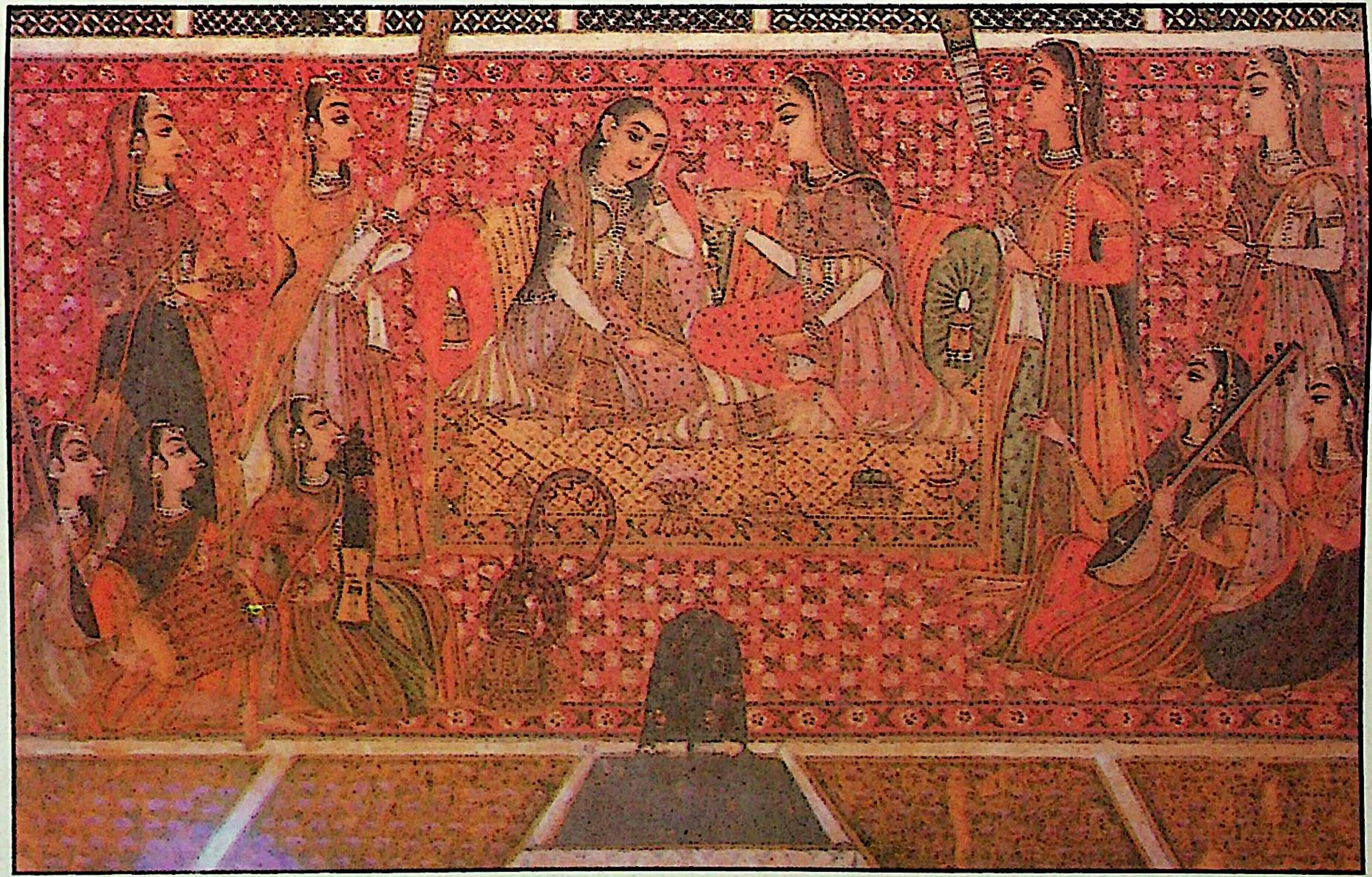

चित्र 7: जनानी महफिल : किशनगढ़ शैली, सन् 1775
(राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

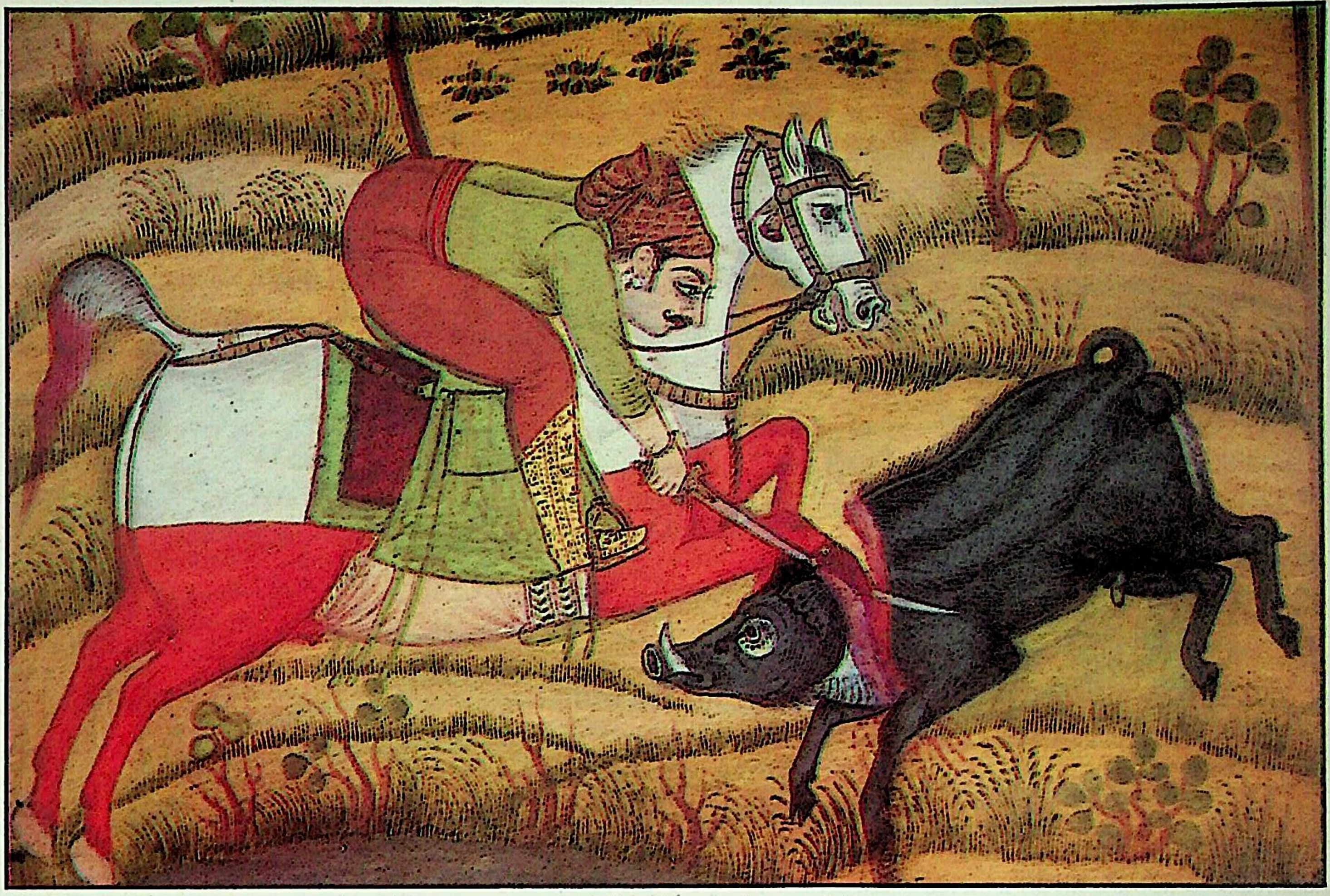

चित्र 8: सूअर का शिकार करते राजसिंह जूनियाँ : सावर शैली, सन् 1690
(कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

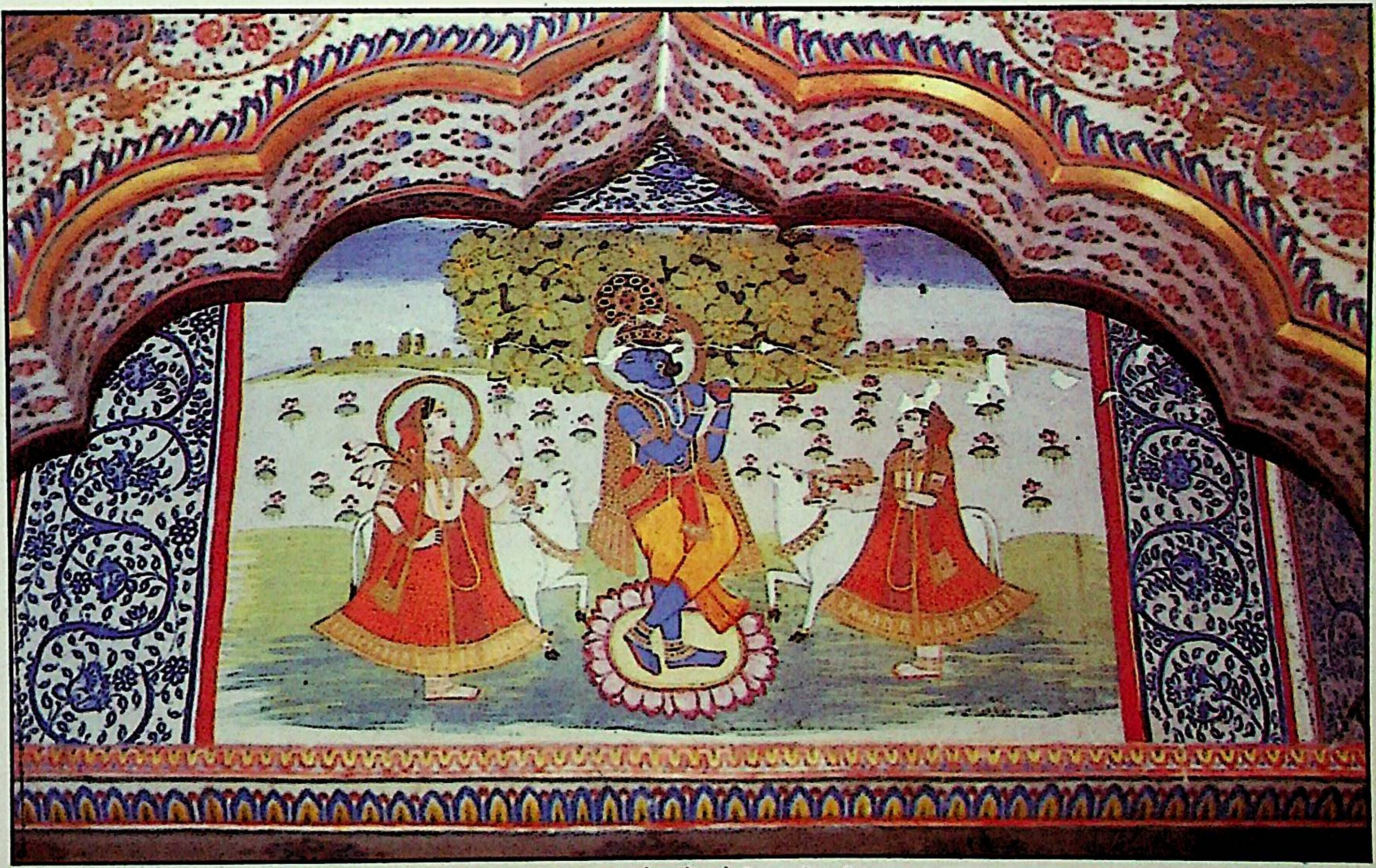

चित्र 9: वंशी-वादन : जैसलमेर शैली, 19वीं शती प्रारम्भ
(जैसलमेर किले के राजमहल के भित्ति-चित्रों से)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

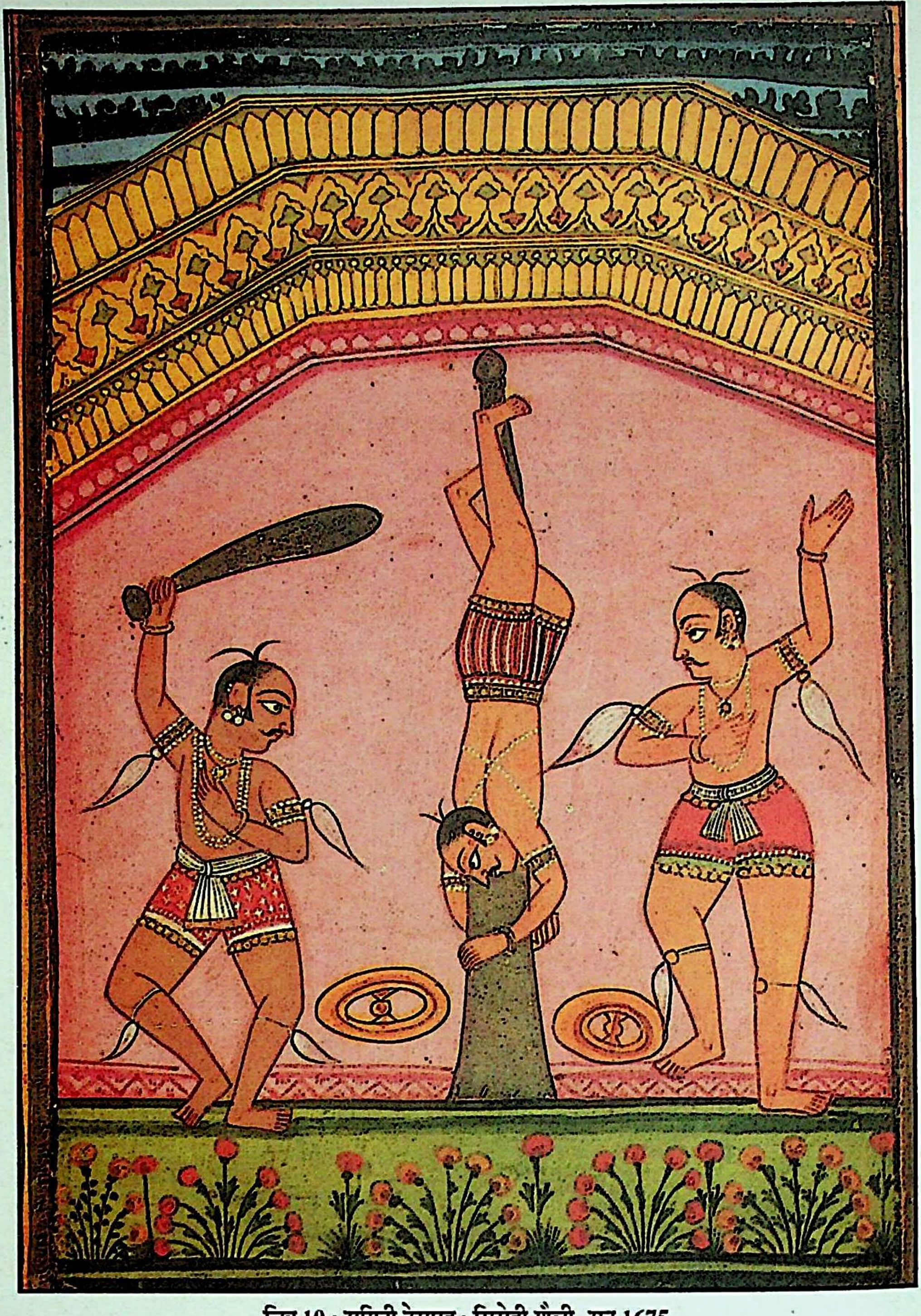

चित्र 10 : रागिनी देसाख : सिरोही शैली, सन् 1675
(कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्र 11 : गुलदस्ता लिये नायिका : बीकानेर शैली, सन् 1690
(कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्र 12 : ठा. इन्दरसिंह नागौर : नागौर शैली, सन् 1720
(कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आँखें, चपटा ढलवाँ ललाट, वृद्धों की झुकी कमर, शिथिलता तथा परदाज़ से बनाई गयी झुर्रियों का अत्यधिक सधा हुआ अंकन हुआ है। नागौर शैली में हल्के बुझे हुए रंगों का अधिक प्रयोग हुआ है। पारदर्शी वेशभूषा (रंगीन चित्र-12) नागौर-शैली की अपनी निजी विशेषता है।

सिरोही शैली

राजस्थान के दक्षिण-पश्चिमी क्षेत्र में सिरोही 15वीं शती एक महत्त्वपूर्ण किन्तु छोटी-सी देवड़ा राजपूतों की रियासत रही है। इस क्षेत्र का प्राचीन वैभव अत्यधिक महत्त्वपूर्ण रहा है। देलवाड़ा के जैन मंदिर, चन्द्रावती एवं वसन्तगढ़ मन्दिर के कला एवं मूर्ति शिल्प इस को स्पष्ट करते हैं कि कभी यहाँ पर साँस्कृतिक वैभव का बाहुल्य रहा है। सूर्य मंदिरों की शृंखला यहाँ के कलात्मक अवदान को प्रकट करती है। गुजरात के अत्यधिक निकट होने के कारण जैन संस्कृति का यह केन्द्र रहा। ऐसे में यहाँ चित्रकला का प्राचीन स्वरूप न मिलना आश्चर्य चकित ही करता है। जो भी प्राचीन चित्रण अवशेष उपलब्ध हैं, वे जैन कला के ही अन्यतम उदाहरण हैं।

जैन संस्कृति का संरक्षण मिलने के कारण यहाँ के चितारों ने, जो प्रमुखतः सोमपुरा या गुरोसां जाति के थे; उन्होंने जैन साधुओं की देखरेख में जैन-धर्म की पुस्तकें लिखने और चित्रित करने का व्यवसाय किया। यहाँ पाये जाने वाले प्राचीनतम चित्र चौबीस जिनों के स्वरूपों से संबंधित हैं। प्रत्येक जैन अपने घर में एक दर्शन- चौबीसी अवश्य रखता था। बार-बार निरंतर हाथों में पलटने के कारण बदरंग होने एवं फट जाने से ये चौबीसियाँ विसर्सित कर दी जाती थीं, जिसके फलस्वरूप इस परम्परा के चित्र बहुत कम उपलब्ध होते हैं। इस शैली का 10×15 इंच के आकार का एक दुर्लभ चित्र सिरोही के आँचलिया आदेश्वर मंदिर में लगा हुआ है तथा एक छोटा सादा किन्तु कलात्मक चित्र डॉ. सोहनलाल पटनी, सिरोही के संग्रहालय में भी है।

यह निश्चय है कि इस प्रकार के चित्र-निर्माण की परम्परा पूरे पश्चिमी राजस्थान में थी, पर उन चित्रों को राजस्थानी चित्रकला के अन्तर्गत तो लिया नहीं जा सकता। अन्ततोगत्वा वे जैन शैली के चित्र आँके जायेंगे।

सिरोही शैली के उद्‌भव और विकास में जैन-शैली का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। राजनैतिक उथल-पुथल एवं सीमावर्ती क्षेत्र होने के कारण यहाँ का सांस्कृतिक परिवेश सदा से ही प्रभावित रहा। चन्द्रावती पर परमारों का आधिपत्य रहा। गुर्जरत्रा के सोलंकी भी यहाँ प्रभावशाली रहे। अंत में जालौर के देवड़ा चौहान राजपूतों ने सिरोही को अपने अधिकार में किया तथा सन् 1425 में आधुनिक सिरोही को अपनी राजधानी बनाया।[37] सिरोही के देवड़ा वीर एवं प्रतिभाशाली थे, अतः मेवाड़ की ही भाँति उन्होंने भी मुगल आधिपत्य को सहज ही स्वीकार नहीं किया। महाराव सुरताण का नाम इसी दृष्टि से सिरोही में आदर से लिया जाता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्रण के आधार

सिरोही शैली के निर्धारण जैन-कला, लोक-कला तथा पारम्परिक संबंधों के कारण मेवाड़, मारवाड़ तथा मुगलकला का मिलाजुला प्रभाव द्रष्टव्य है। सिरोही-शैली का निर्धारण ही बहुत बाद में उस समय हुआ, जब एक कबाड़ी वसंतगढ़ से रागमाला के चित्र बेचने के लिए कुमार संग्रामसिंह के पास लाया। उन्होंने उन चित्रों को सिरोही शैली के अन्तर्गत रखा। सन् 1675 के ये चित्र अत्यधिक कलात्मक एवं भावपूर्ण हैं।[38] रेखांकन, शारीरिक बनावट, प्रकृति-चित्रण एवं रंगों की चटकदार लोच के कारण ये चित्र लोक-कलात्मक (रंगीन चित्र-10) गुणों से भरपूर हैं। मालवा शैली जैसे स्थापत्य एवं पेड़ों के अंकन एवं पशु-पक्षियों के सहज लोकांकन के कारण यह रागमाला सैट सिरोही शैली का मानक बन गया है।

जैन कला के बाद निश्चय ही अन्य राजस्थानी शैलियों की भाँति सिरोही शैली में भी विषय-वस्तु एवं चित्रों की बनावट में परिवर्तन आना स्वाभाविक था। लोक-जीवन एवं सामंती परिवेश के प्रभाव के कारण यहाँ भी रागमाला के साथ ही दुर्गा सप्तशती, देवी-महात्म्य, नायिक-भेद, कृष्ण-लीला, युद्ध, सामंती परिवेश आदि का चित्रण उपलब्ध होता है। सिरोही शैली के कुछेक सचित्र गुटके डॉ. सोहन लाल पटनी के संग्रह में उपलब्ध हैं जिनमें लेखन के साथ चित्र भी अंकित हैं। देवी महात्म्य के कुछ पन्ने कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर एवं विदेशी संग्रहकर्त्ता पाल एफ. वाल्टर के पास उपलब्ध हैं।[39] डॉ. सोहन लाल पटनी के संग्रह में अनेक ऐसे रेखांकन उपलब्ध हैं, जिनमें विरहिणी नायिका, हंसारूढ़ सरस्वती, लैला-मजनूँ, रुकमणी-हरण, घुड़सवार, घोड़ा-बग्गी की सवारी, नायक-नायिका, राग-रागिनी आदि का अंकन सिरोही शैली के निर्धारण में सहयोगी होता है।

भित्ति-चित्रण

राजस्थानी चित्रण परम्परा के अनुकूल सिरोही में भी भित्ति चित्रण उपलब्ध होता है, किन्तु वह बहुत बाद का और बहुत कम मात्रा में है। सिरोही से पूर्व यह प्रदेश सांस्कृतिक वैभव से परिपूर्ण रहा है। अर्बुद मण्डल की राजधानी चन्द्रावती थी, जहाँ तक्षण-कला के साथ चित्रकारी के संदर्भ 'विमल प्रबंध' नामक ग्रंथ में मिलते हैं।[40] अनेक जातियों के साथ चित्रकार जाति का भी उसमें उल्लेख है।

सिरोही के भित्ती चित्रण का प्रश्रयकाल सिरोही के महाराव अखैराज (1618-1663) से प्रारम्भ होता है। उन्होंने सरणवा दुर्ग को चित्रांकित करवाया था, किन्तु वे सब काल की मार से धूमिल हो गये हैं। सिरोही के राजमहलों के भित्यांकन में कृष्ण-लीला, शिव-लीला एवं इन्द्र-सभा जैसे विषयों का अंकन है। इस महल में सामंती वैभव के साथ अकबर बादशाह तथा अन्य राजाओं का चित्रांकन सुनहरी काम से युक्त है। दुर्जनेश्वर महादेव के मंदिर में भी बाद में उपर्युक्त विषयों और शैली का पुनरांकन द्रष्टव्य है। राजमहल के चित्रों की भाँति यहाँ भी सिरोही- शैली की पगड़ी, ऐरावत, घोड़े, गाय, हिरण, सारस तथा प्रकृति-परिवेश आदि का चित्रण हुआ है। मानवाकृतियाँ तथा उनकी पगड़ी,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

मूँछें आदि सिरोही शैली की विशेषताएँ प्रदर्शित करती हैं । इनका समय 18वीं शती उत्तरार्द्ध माना जा सकता है ।

सिरोही के महलों, सारणेश्वर महादेव के मंदिर एवं बाबाओं के मठों, सिरोही के दीवानों की हवेलियों, नीमाज़ के महल आदि में भी भित्यांकन के साक्ष्य उपलब्ध होते हैं, पर बार-बार सफेदी पोतने के कारण वे अधिकतर नष्ट हो गये हैं । महाराव बैरीसाल की छतरी (1807) में योद्धा, पशु-पक्षी, चंवरधारिणी तथा अलंकरणयुक्त बेल-बूँटों के अंकन की धुँधली छवि द्रष्टव्य है । इनमें अधिकतम कत्थई और आसमानी रंगों का प्रयोग हुआ है ।

सिरोही शैली की विशेषता

रागरागिनी सैट की प्राप्ति एवं अनेक सचित्र गुटकों एवं लघुचित्रों तथा भित्ति चित्रों के आधार पर सिरोही शैली की एक अलग पहचान उभर कर आती है जिसके आधार पर मरु-प्रदेश के वृहद् परिवेश में सिरोही शैली की स्थापना की जा सकती है ।

सीमावर्ती प्रदेश होने के कारण सिरोही की संस्कृति पर गुजरात, मालवा, मेवाड़, मारवाड़ आदि के अतिरिक्त विवाह एवं रक्त संबंधों के कारण जयपुर तथा हाड़ौती क्षेत्र तक के प्रभाव की छानबीन की जा सकती है, किन्तु अनेक सम्मिश्रणों सम्बन्धों के बाद भी सिरोही शैली का जो संविधान बनता है, उसमें पुरुषाकृतियों के चेहरे गोल, ठुड्डी बैठी हुई, नाक, भौंहें, आँख आदि कम नुकीली, मूँछें पतली तथा शारीरिक बनावट कम लंबी अंकित हुई है । सिरोही शैली में वेशभूषा भी अलग पहचान बनाती है । पहनावे में अंगरखा, जामा, एक लपेटे का कमरबंद तथा सिरोही की पगड़ी का विशेष अंकन है । सन् 1623 के रागरागिनी के पाली सैट की समता में इन चित्रों को रखा जा सकता है । सिरोही की तक्षण-कला से भी इन चित्रों का मिलान कर किसी निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है ।

सिरोही शैली के चित्रों में स्त्रियों का अंकन लोक-कलात्मक ढंग से हुआ है । आकृतियाँ ठिगनी, उनकें चेहरे गोल, मांसल , नाक अपेक्षाकृत कम नुकीली, मोटी आँखें, पीपल के पात जैसा पेट, माँसल हाथ-पैर सिरोही शैली की निजी विशेषता है । पहनावे में ऊँची कंचुकी, बुँदकी, बूंटीदार एवं पट्टेदार घाघरा, रंग-बिरंगी छींटदार ओढ़नियाँ, बालों में पट्टियाँ पड़ी हुई, गले में कठुला, हुमेल तथा हार, चूड़े से भरे हाथ, पैरों में पायजेब आदि सिरोही शैली में विशेष अंकित हैं ।

इस शैली में प्रकृति-परिवेश का वृहद् परिपार्श्व-पूर्ण (Perspective) चित्रण तो नहीं है, किन्तु पेड़-पौधों एवं बेल-लताओं का मालवा शैली की भाँति लयात्मक एवं गोलाकृत अंकन बहुलता से हुआ है । आम, कदम्ब, केला, अशोक, सरू, ताड़ आदि वृक्षों का अंकन तथा मोर, सारस, हिरण, बकुल, हाथी, घोड़े, शेर का चित्रण यथास्थान हुआ है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सिरोही शैली के चित्रों में अधिकतर सूचक अर्थात् लाल, पीला, नीला, हरा, काला आदि रंगों (रंगीन चित्र-10) का प्रयोग हुआ है। चटकदार रंगों में बने चित्रों की भूमि की बाँट-चूँट प्रभावशाली है। वर्णिका-भंग अर्थात् रंग संयोजन का प्रयोग लोक-कलात्मक शैली में किया गया है। रागरागिनी सैट के चित्रों का रंग-संयोजन देखते ही बनता है। चमकीले शुद्ध रंगों के प्रयोग में विरोधी रंगयोजना द्वारा चित्रों में और अधिक लोच आ गयी है। निश्चय ही रंगों का यह प्रयोग सिरोही शैली की लोक-कलात्मक निजी धरोहर मानी जा सकती है।

खेद यही है कि इस शैली के अभी तक बहुत कम चित्र उपलब्ध हुए हैं। अधिक चित्र प्राप्त होने पर निश्चय ही सिरोही शैली का परिपक्व स्वरूप उभर कर सामने आयेगा।

जैसलमेर शैली

वृहद् मारवाड़ प्रदेश में दूर-दूर तक जहाँ मरु के टीलों का विस्तार है, वहीं कला संसार का खजाना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। चन्द्रवंशी जादू, खौंप से सम्बन्धित भाटी राजपूतों का इतिहास भी वीरता और कलाप्रियता के लिए किसी से कम नहीं है। प्राचीन समय से ही व्यापारिक स्वर्णिम मार्ग के केन्द्र में होने के कारण जैसलमेर ऐश्वर्य, धर्म एवं सांस्कृतिक अवदान के लिए प्रसिद्ध रहा है। जैसलमेर का सोनार किला, चिन्तामणि पार्श्वनाथ जैन मन्दिर (1402-1416), सम्भवनाथ जैन मन्दिर (1436-1440), शांतिनाथ-कुन्थनाथ जैन मन्दिर (1480), चन्द्रप्रभु जैन मन्दिर तथा अनेक वैष्णव मन्दिर धर्म के साथ-साथ कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। 18वीं-19वीं शताब्दी में बनी जैसलमेर की प्रसिद्ध हवेलियाँ तो स्थापत्य कला की बेजोड़ मिसाल हैं। सालिमसिंह मोहता की हवेली, पटवों की हवेली, नथमल की हवेली तथा किले के राजप्रासाद और बादल महल आदि ने जैसलमेर की कलात्मदाय को आज संसार प्रसिद्ध कर दिया है।

चित्रकला के निर्माण, सचित्र ग्रंथों की नकल एवं प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथों के संरक्षण के लिए जैसलमेर का जितना योगदान रहा है, उतना अन्य किसी स्थान का नहीं। जब आक्रमणकारी भारतीय स्थापत्य कला एवं पाण्डुलिपियों को नष्ट कर रहे थे, उस समय भारत के सुदूर मरुस्थलीय पश्चिमांचल में जैसलमेर का त्रिकुटाकार दुर्ग उनकी रक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण स्थान समझा गया। इसलिए खंभात, पाटण, गुजरात, अलहयापुर एवं राजस्थान के अन्य भागों से प्राचीन साहित्य, कला की सामग्री को किले के जैन मन्दिरों के तलघरों में सुरक्षित रखा गया।

जैसलमेर में लगभग सात ज्ञान भण्डार हैं जिनमें 'जिन भद्रसूरि ज्ञान भण्डार' सबसे बड़ा और वृहद् सामग्री का आगार है, इसीलिए उसे बड़ा भण्डार के नाम से पुकारते हैं। इस भण्डार में लगभग चार सौ से अधिक ताड़पत्रीय ग्रंथ, लगभग तेईस सौ हस्तलिखित कागज कें ग्रंथ, अनेक चित्र पट्टिकाएँ उपलब्ध हैं। उपर्युक्त ग्रंथों में अनेक सचित्र ग्रंथ हैं जिनके माध्यम से भारतीय चित्रकला के विकास की अनेक कड़ियाँ जोड़ी जा सकती हैं। जैन कला का यह अथाह भण्डार आज भारतीय संस्कृति की अमर धरोहर है।[41]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किन्तु उपर्युक्त धरोहर जैसलमेर की चित्रकला का आधार हो सकती है; उसका प्रारुप नहीं। यह खेदजनक ही है कि सांस्कृतिक केन्द्र जैसलमेर की प्राचीन चित्रकला के उदाहरण नहीं के बराबर मिलते हैं। हवेलियों के साथ-साथ जो भित्ति चित्रों की कला उभरी है, वह 19वीं शताब्दी की कला ही मानी जा सकती है और उस पर भी जोधपुर, उदयपुर के कलाकारों का प्रभाव विशेष द्रष्टव्य है। जैसलमेर के भित्ति-चित्रों में किले के राजमहल के चित्रों (रंगीन चित्र-9) और पटवों की हवेली के चित्रों को लिया जा सकता है। किले में अवस्थित व्यासों की हवेली और नथमल की हवेली में भी अनेक फ्लोरल डिजाइन देखे जा सकते हैं, किन्तु कुल मिलाकर उपर्युक्त भित्ति-चित्रण ठेठ जैसलमेरी कला का प्रतिनिधित्व नहीं करता।

राजमहलों में अंकित भित्ति-चित्र ऊपर के एक कमरे में व्यवस्थित रूप से बने हुए हैं जिनमें कुछेक बड़े-बड़े पैनल हैं और कुछेक छोटे। बड़े पैनलों में शहर के मानचित्र के साथ, मन्दिरों का विशेष प्रदर्शन किया गया है। एक पैनल में घेराकार जुलूस का विस्तृत चित्रण है जिसमें सैकड़ों आदमियों, हाथियों, घोड़ों का सधा हुआ चित्रण किया गया है। अन्य में महलों, गली-बाजारों, मन्दिरों तथा पहाड़ी पर किले का चित्रण भी विशेष उल्लेखनीय है।

छत से नीचे के स्थान में भी चारों ओर सुन्दर चितराम हैं जिनमें कृष्ण का वंशीवादन, (रंगीन चित्र-9) वेणी गुंथन, गोचारण, शिव-पार्वती परिवार एवं गणेश का चित्रण अत्यधिक सधा हुआ तथा लुभावना है। नीचे जहाँ-जहाँ स्थान बचा हैं, वहाँ फूल सूंघती नायिका, सारंगी-वादिका, मोरछल धारिणी आदि स्त्रियों के चित्र अंकित किये गये हैं जिनके घाघरे का घेर देखते ही बनता है। ढिगनी औरतों का गठन उदयपुर शैली के प्रभाव का आभास देती है। दीवार के निचले भाग में आराइश पर फूल- पत्तियों के फ्लोरल डिजाइन विस्तार से अंकित हैं। उपर्युक्त सारा ही कार्य बहुत बाद का है, अतः जोधपुर, उदयपुर के कलाकारों को बुलवाकर यह चित्रशाला भित्यांकित की गयी लगती है।

स्थापत्य एवं पत्थर पर कोराई की दृष्टि से पटवों की हवेलियाँ आज जगत प्रसिद्ध हो गयी है। पत्थर को इस बारीकी और नफ़ासत से कोरा गया है कि कलाकारों की बेजोड़ कला राजस्थान की शान बन गयी है। झरोखों, बारियों, स्तम्भों, गवाक्षों की कला में दर्शक इतना रम जाता है कि पटवों की बिचौली हवेली की चितराम कला पर किसी का ध्यान ही नहीं जाता। हवेली की पौळ में घुसते ही पटवों की आलीशान बैठक रही है, जिसकी छत को लाल-गुलाबी गोलाकृत शीशों से जड़ा गया है। रंग एवं बनावट की दृष्टि से ये चित्र, महल के चित्रों से कुछ पूर्व के लगते हैं। चटक और गहरे रंगों में जो कुछेक पैनल बने हुए बचे हैं, उनमें भारतीय देवी-देवताओं तथा कृष्ण-लीला, राजसी वैभव, चँवरधारिणी, मोरछलधारिणी आदि के सुन्दर चित्र बने हुए हैं। यथास्थान फूल-पत्तियों की सज्जा भी विशेष दर्शनीय है। नथमल की हवेली में हवेली शैली चित्रण का प्रभाव है अर्थात् फोटोग्राफी और कंपनी शैली से प्रभावित चित्र बहुत बाद के लगते हैं। इसी प्रकार किले की व्यासों की हवेली की बैठक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की पुष्प-सज्जा एवं बेल-बूँटों की चित्रकारी धूमिल रंगों में उकेरी गयी है। निश्चय ही जैसलमेर का भित्याकंन 19वीं शती प्रारम्भ से लेकर 20वीं शती प्रारम्भ तक का है। निश्चय ही यहाँ बाहर के कलाकारों ने आकर कार्य किया है। अभी तक ऐसे कोई निष्कर्ष नहीं निकले हैं कि अन्य राज्यों की भाँति यहाँ भी चितारों के परिवारों की परम्परा रही हो।

ग्रंथ-चित्रण एवं उनके संरक्षण में जैसलमेर अग्रणी रहा है, किन्तु जैसलमेर में भी जिन ग्रंथों का चित्रण हुआ, वे जैन-परम्परा के अन्तर्गत ही बने हैं, इसलिए उन्हें जैसलमेर शैली से नहीं जोड़ा जा सकता। लघुचित्र भी बहुत कम उपलब्ध हुए हैं, पर उनमें जैसलमेर शैली का प्रारूप स्थिर किया जा सकता है। सर्वप्रथम डब्ल्यू.जी. आर्चर द्वारा लिखित 'इंडियन मिनियचर' पुस्तक में (प्लेट सं. 53) जैसलमेर के राजा जसवन्तसिंह (1702-1710) को पालकी में ले जाते हुए अंकित किया गया है। बड़ी-बड़ी मूँछे, गोल पगड़ी, पुरुषाइत व्यक्तित्व, एक हाथ में बंदूक लिए राजा ठसक के साथ पालकी में बैठा है और पालकी उठाने वालों के साथ तलवार लिए, छड़ी मोरछल लिए अन्य सेवक भी पैदल चल रहे हैं। ये चित्र विक्टोरिया एंड एलबर्ट म्यूजियम में हैं। पिछले दिनों 32 रेखाचित्रों एवं चार रंगीन चित्रों को जैसलमेर में प्रदर्शित किया गया, जो कला-संग्राहक श्री कन्हैयालाल सोनी के संग्रह से थे। इन चित्रों में महालक्ष्मी, श्रीकृष्ण, मत्स्यावतार, शिकार तथा अन्य देवी-देवताओं के चित्र थे। निश्चय ही ये चित्र भी बहुत प्राचीन नहीं होने के कारण जैसलमेर चितराम की विशिष्ट पहचान नहीं कराते। कभी राजघराने की कलात्मक धरोहर (यदि कुछ है तो) उजागर हो, तो जैसलमेर शैली का सही प्रारूप निर्धारित करने में सहयोग मिल सकता है। स्थापत्य और तक्षण की जहाँ जगत-विख्यात परम्परा रही हो, वहाँ चित्रकला की विशिष्ट शैली विकसित न हुई हो यह मानते हुए शंका होती है, पर इसका निराकरण तो आने वाला समय ही करेगा।

इस प्रकार मारवाड़ स्कूल के विस्तृत परिवेश में अनेक शैलियों, उपशैलियों तथा ठिकाणा कला का समावेश हो जाता है। अभी भी महत्त्वपूर्ण खोजबीन होना शेष है।

❑

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

सन्दर्भ

1. ताराचन्द : तारानाथ एण्ड बुद्धिस्ट आर्ट मार्ग, भाग-4, अंक-1, पृ. 63
2. देखिए- पुस्तक प्रकाश, जोधपुर तथा जैसलमेर के जैन भण्डार में उपलब्ध अनेक सचित्र ग्रंथ ।
3. देखिए- कुमार स्वामी : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन आर्ट, पृ. 86-87
4. गोएट्ज : दि मारवाड़ स्कूल ऑफ राजपूत पेण्टिंग, बड़ौदा म्यूजियम बुलेटिन, सं. 5 (1949) ।
5. आर्ट एण्ड पिक्चर गैलेरी, बड़ौदा- पी.जी. 5 एफ. के.
6. मारवाड़ : हरमैन गोएट्ज- मार्ग भाग II, नं. 2, 1958
7. वही, फिगर-2, 7, पृ. 44
8. महाराजा जोधपुर के निजी संग्रह में
9. कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर
10. हरमैन गोएट्ज : मार्ग, अंक II, नं. 2, पृ. 46
11. डॉ. जयसिंह नीरज : राजस्थानी चित्रकला और हिन्दी कृष्ण-काव्य, पृ. 71
12. पिक्चर एण्ड आर्ट गैलेरी, बड़ौदा, चित्र सं. पी.सी. 5ए, 21, 22
13. पिक्चर एण्ड आर्ट गैलेरी, बड़ौदा, चित्र सं. 28, 40
14. देखिए- मार्ग, II, अंक-2, पृ. 48, 49
15. हरमैन गोएट्ज : दि आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ बीकानेर स्टेट, पृ. 17
16. वही
17. ओझा : बीकानेर राज्य का इतिहास, भाग I, पृ. 201 से 204
18. वही, पृ. 196
19. कर्नल टॉड : अनल्स ऑफ राजस्थान, पृ. 145
20. महाराजा करणीसिंह, बीकानेर के संग्रह में द्रष्टव्य
21. मोतीचन्द्र खजांची : बीकानेर की चित्रकला, राजस्थान भारती, भाग-5, पृ. 52-53
22. डॉ. रघुवीरसिंह : पूर्व आधुनिक राजस्थान, पृ. 176
23. महाराजा करणीसिंह, बीकानेर के निजी संग्रह में द्रष्टव्य
24. बीकानेर महाराजा द्वारा प्रदत्त, एक किंवाड़ जोड़ी
25. एरिक डिकिन्सन : किशनगढ़ पेण्टिंग तथा डॉ. फैयाज अली : भक्तवर नागरीदास (अप्रकाशित शोध-प्रबंध)
26. कृष्ण चैतन्य : ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन पेण्टिंग - राजस्थानी ट्रेडिशन, पृ. 118
27. रामगोपाल विजयवर्गीय : राजस्थान की चित्रकला, पृ. 2
28. डॉ. फैयाज अली : भक्तवर नागरीदास (अप्रकाशित शोध-ग्रंथ), पृ. 38
29. डॉ. फैयाज अली : नागरीदास ग्रंथावली, पृ. 12
30. एरिक डिकिन्सन : किशनगढ़ पेण्टिंग, पृ. 15
31. स्वर्गीय महाराजा किशनगढ़ के निजी पत्र के आधार पर
32. कुमार संग्रामसिंह : अजमेर पेण्टिंग्स, नाद-निनाद श्री, कलकत्ता, पृ. 146-148

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

33. विक्टोरिया एण्ड एलबर्ट म्यूजियम, लंदन के अवस्थित सचित्र ग्रंथ
34. कुमार संग्रामसिंह : अजमेर पेंटिंग, नाद-निनाद श्री, कलकत्ता, पृ. 147
35. देखिए- एरिक डिकिन्सन, कार्ल खण्डालवाला : किशनगढ़ पेण्टिंग प्लेट- 2, 5, 6, 7, 9 आदि
36. देखिए- डॉ. जयसिंह नीरज : स्प्लैण्डर ऑफ राजस्थानी पेंटिंग, प्लेट 22.
37. डॉ. नागौरी : सिरोही राज्य का इतिहास, पृष्ठ 7
38. देखिए-आर्ट ऑफ सिरोही : कलावृत-27, जनवरी-मार्च, 92
39. वही - पृष्ठ-7
40. डॉ. सोहन लाल पटनी : अर्बुद मंडल का सांस्कृतिक वैभव, पृ. 186
41. आर. ए. अग्रवाल : आर्ट एण्ड आर्किटैक्ट ऑफ जैसलमेर, पृ. 27.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

6

हाड़ौती-स्कूल

चौहानवंशी हाड़ाओं का प्रसार और प्रताप बूँदी, कोटा, झालावाड़ क्षेत्र में रहा, इसलिए यह हाड़ौती क्षेत्र कहलाया। ऐतिहासिक दृष्टि से यह क्षेत्र कलात्मक दाय का गढ़ रहा है। मंदिरों की स्थापत्य और मूर्तिकला के लिए हाड़ौती क्षेत्र प्राचीनकाल से ही प्रसिद्ध रहा है। कन्सुआ, बाड़ोली, रामगढ़ आदि स्थलों के कलात्मक मंदिर इसके साक्षी हैं, पर हाड़ौती चित्रकला का इतिहास राजस्थानी चित्रकला के अनुकूल ही हुआ है। बूँदी शैली, कोटा शैली, झालावाड़ शैली तथा अन्य ठिकाणों की कला को हम हाड़ौती स्कूल के अन्तर्गत रख सकते हैं।

बूँदी-शैली

प्राकृतिक सौन्दर्य और सुषमा से आवेष्टित हाड़ा राजपूतों के राज्य बूँदी में परिपोषित चित्रकला बूँदी के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ की हरी-भरी पहाड़ियाँ, झील, सरोवर और गहन जंगलों से युक्त प्राकृतिक परिवेश बूँदी के कलात्मक जीवन को प्रभावित करता आया है।

ऐतिहासिक पीठिका

चौदहवीं शती के मध्य (सं. 1398) में राज देवा द्वारा स्थापित बूँदी हाड़ा वीर राजपूतों का प्रमुख राज्य रहा किन्तु बूँदी शैली का इतिहास राव सुरजन (1554-85) के समय से ही आँका जाता है। उन्होंने मेवाड़ से सम्बन्ध-विच्छेद कर अकबर को रणथम्भौर का प्रसिद्ध किला सौंपकर मुगलों का आधिपत्य स्वीकार किया।[1] उनके पौत्र राव रतनसिंह (1607-31) को जहाँगीर ने सर बुलन्दराय की पदवी देकर सम्मानित किया तथा हाड़ा मुगल सम्बन्धों को दृढ़ बनाया।[2] राव रतन के पौत्र शत्रुशाल (1631-58) ने अपने राज्य में अनेक कलाकारों को आश्रय दिया। उनके पुत्र भावसिंह (1658-81) की कलाप्रियता ने बूँदी निवासियों को संगीत, काव्य और चित्रकला से परिप्लावित कर दिया।[3] भावसिंह के आश्रय में मतिराम जैसे कवि रहे, जिन्होंने "ललित ललाम" और रसराज की रचना कर कला-प्रेमियों तथा कलाकारों को प्रभावित किया।[4] भावसिंह तथा उनके पुत्र अनिरुद्धसिंह ने मुगल शासन के निर्देशों से दक्षिण के युद्धों में भी भाग लिया, जिससे बूँदी शैली में दक्षिण शैली का प्रभाव समाविष्ट हुआ। राव बुद्धसिंह (1695-1731) के समय में सन् 1719 में राव भीमसिंह (कोटा) ने बूँदी को अपने अधीन कर लिया, किन्तु मराठों की सहायता से राव उम्मेदसिंह ने सन्

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

1748 में उसे स्वतंत्र करा लिया, जिससे बूँदी पर मराठा प्रभाव भी रहा ।[5] 19वीं शती से राजस्थान राज्यों पर अंग्रेजी प्रभाव पड़ने लग गया, इससे बूँदी राज्य भी मुक्त न रहा ।

विकास

बूँदी शैली के उद्भव के बारे में अभी तक भी निश्चित तिथियाँ अंकित नहीं हो पायी हैं, किन्तु 18वीं शती मध्य में अपने चरम उत्कर्ष पर आरूढ़ बूँदी-शैली के पीछे एक लंबा इतिहास अवश्य रहा है ।[6] प्रारम्भिक बूँदी शैली के चित्रों की खोजबीन और पहचान के बारे में विभिन्न मत-मतान्तर हैं । अब तक की प्राप्य सामग्री के आधार पर अनेक संग्रहालयों में बिखरे राग-रागिनी के प्रारम्भिक चित्र अध्ययन के विस्तृत आयाम प्रस्तुत करते हैं । भारत कला भवन, वाराणसी के राग दीपक, रागिनी विलावल, कामोद एवं पटमंजरी के चित्र, रागिनी भैरवी का नगरपालिका संग्रहालय, इलाहाबाद का चित्र तथा विदेशों में स्टुअर्ट केरीवेल्च एवं जैम्स आइवरी संग्रह के क्रमशः रागिनी मालश्री, गौड़ तथा राग पंचम, रागिनी खम्भावती आदि के चित्रों से बूँदी शैली की प्रारम्भिक चित्रावली का पता चलता है ।[7] कार्ल खण्डालवाला तथा प्रमोदचन्द्र विशेषतः भारत कला भवन एवं इलाहाबाद संग्रहालय के राग दीपक और रागिनी भैरवी के चित्रों को 17वीं शती प्रारम्भ के मानते हैं । इन चित्रों में मेवाड़ की सशक्त लोक कलात्मक एवं सहज प्रवृत्ति के साथ प्रारंभिक जहाँगीरकालीन (1605-1627) मुगलई कलम का प्रभाव भी अक्षुण्ण है । चावंड की रागमाला (1605) परम्परा से भी ये चित्र मेल खाते हैं । अतः निष्कर्ष निकलता है कि मेवाड़ स्कूल ने प्रारम्भिक राजस्थानी शैलियों को प्रभावित किया, उसी प्रकार मेवाड़ के निकट होने के कारण बूँदी की चित्रण-परम्परा भी मेवाड़ी प्रभाव से अछूती न रह सकी ।

बूँदी के उपर्युक्त प्रारम्भिक चित्रों में राजस्थानी परम्परा का पूर्णतः निर्वाह हुआ है । महाराणा कुंभा संगीत के प्रकाण्ड विद्वान थे । उनके समय (1433-1468) में राग-रागिनी का रूपाकार निर्धारित होने लगा था और तदुपरान्त राग-रागिनी चित्रण की परम्परा भी राजस्थान में प्रचलित हो गयी थी । इस दृष्टि से चावंड, पाली तथा बूँदी रागमाला के चित्र विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करते हैं ।

उपर्युक्त चित्रों में आधारभूत विशिष्टताएँ राजस्थान की हैं । विषयवस्तु एवं चित्रण-परम्परा राजस्थानी है । स्त्रियों की वेशभूषा यथा ओढ़नी, चोली, काले फुँदने, आभूषण तथा पुरुषाकृतियों की ओज़पूर्ण छवि यहाँ की संस्कृति की परिचायक हैं । पुरुषों की वेशभूषा अकबरी एवं जहाँगीरी मुगलई कलम से मेल खाती हुई है, अतः बूँदी शैली का उद्भव मेवाड़ और मुगल संबंधों के आधार पर विकसित होता हुआ अग्रसर हुआ है । 17वीं शती प्रारम्भ में मेवाड़ स्कूल की प्रशाखा के रूप में अपनी हाड़ौती धरती की विशिष्टताओं के साथ कला-प्रेमी राजाओं के आश्रय में बूँदी शैली पनपी और धीरे-धीरे विकसित होकर उसने अपने वैभव के दिन देखे ।

आगे चलकर राव छत्रसाल ने प्रसिद्ध रंगमहल बनवाया जो सुन्दर भित्ति-चित्रों से सुसज्जित है । "ललित-ललाम" में भावसिंह की वीरता, कलामर्मज्ञता, कला-पोषण आदि का सहज ही पता लगता है । उनके समय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के चित्रित राग-रागिनी, नायिका-भेद, कृष्णलीला सम्बन्धी अनेक चित्र संग्रहालयों तथा व्यक्तिगत संग्रहकर्त्ताओं के पास उपलब्ध हैं।[8] "रसराज" पर आधारित चित्रण-परम्परा इसी समय से प्रारम्भ हुई। रीतिकाल के अन्त में लालकवि ने राजा बुद्धसिंह (1695-1731) के लिए एक अलंकार-ग्रंथ की रचना की, जिससे उनकी विद्वत्ता और कला-मर्मज्ञता का परिचय मिलता है। 18वीं शती के प्रथम सोपान में बूँदी- शैली अत्यधिक विकसित हुई। चित्रण की बहुलता तथा विशेषता (श्वेत श्याम चित्र 8.1) की दृष्टि से यह समय चित्रकला के इतिहास में महत्त्वपूर्ण है। प्रारम्भिक बूँदी शैली की सरलता और मेवाड़ प्रभाव इस समय अपने मौलिक स्वरूप में प्रस्फुटित होने लगा। रंगों का बाहुल्य और चटकीलापन, शारीरिक गठन आदि से युक्त रीतिकालीन श्रृंगारी-काव्य (श्वेत श्याम चित्र-8.2) पर आधारित और उससे प्रभावित बूँदी शैली अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची।

18वीं शती के मध्य राजा उम्मेदसिंह के काल (1748-1771) में शैली में नवीन मोड़ आया, जिसमें भावनाओं की सरलता, प्रकृति की विविधता, पशु-पक्षियों तथा सतरंगे बादलों, जलाशयों आदि के चित्रण (रंगीन चित्र-13) की बहुलता और नायक-नायिकाओं के शारीरिक सौन्दर्य की तीव्रता (श्वेत श्याम चित्र 8-2) तथा तूलिका की सुदृढ़ता और स्निग्धता सहज ही परिलक्षित होती है। मुगल प्रभाव की झलक होते हुए भी शैली में अपनी मौलिकता और आकर्षण है, प्रिन्स ऑफ वेल्स म्यूजियम का संग्रह तथा राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली का "रसिकप्रिया" का अधूरा सैट इसी काल का है।[9]

काव्य तथा कला आगे भी प्रगति करती रही। रावराजा विष्णुसिंह (1773-1821) अपने पितामह की भाँति कलामर्मज्ञ थे। उनके स्वयं के रचित श्रृंगार एवं भक्तिपरक हजारों पद आज भी हस्तलेखों के रूप में उपलब्ध हैं। उन्होंने रीतिकालीन श्रृंगारपरकता के आधार पर अनेक ग्रंथों का चित्रण करवाया। 19वीं शती के प्रारम्भ में अंग्रेजों के कारण सारे देश में कम्पनी शैली का प्रभाव फैल रहा था। बूँदी भी उससे बच न सका। यहाँ के राजा रामसिंह (1821-1889) कला के अनन्य प्रेमी थे। इन्होंने कितने ही चित्र बनवाये तथा स्वच्छन्द रचना के लिए कलाकारों को प्रोत्साहित किया। इस काल की रचनाओं में नवीनता होते हुए भी पाश्चात्य प्रभाव अवश्य है। इस प्रभाव के कारण अन्य राजस्थानी शैलियों की भाँति बूँदी शैली का भी धीरे-धीरे पतन होने लगा। राजा रामसिंह के समय से ही रंगों में फीकापन, भावों में उथल-पुथल, कल्पना में निर्जीवता और चित्रांकन में दरिद्रता झलकने लगी थी।[1] 19वीं शती के मध्योपरान्त विख्यात बूँदी-शैली का इतिहास प्रायः समाप्त हो गया।

भित्ति-चित्रण

बूँदी के लगभग तीन दर्जन भवनों में भित्ति-चित्र हैं, पर सर्वाधिक चर्चित बूँदी के महलों की चित्रशाला है। इसका मूल नाम रंगशाला था, किन्तु दीवारों पर सर्वाधिक चित्र होने के कारण जनसाधारण इसे चित्रशाला या रंगशाला के नाम से जानता है। गढ़ में छत्र-महल में भी रागरागिनी, सामंती जीवन के सुन्दर चित्र हैं, जो अब जीर्णावस्था में हैं। इस महल का निर्माण रावराजा छत्रशाल ने (1631-59 ई.) में कराया था, पर चित्रांकन कब का है; यह अनुमान लगाना कठिन है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्रशाला खुले प्राँगण के बाद बरामदों और छोटे कमरों का एक ऐसा परिसर है जो चित्रांकन से सुसज्जित है। ये चित्र कब बने ऐसा उल्लेख उपलब्ध नहीं होता, किन्तु चित्रांकन की तकनीक और रंगों के घालमेल तथा कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों के चित्रांकन से अनुमान लगता है कि ये चित्र 18वीं शती मध्य से 19वीं शती मध्य तक बने होंगे। जो चित्र इस समय उपलब्ध हैं, उनके नीचे बने हुए पूर्व चित्रांकन की परत भी रंगों और रेखाओं के उभार के कारण जगह-जगह दिखने लगी है।

सम्पूर्ण चित्रांकन में चार-पाँच जगह बूँदी के रावराजाओं का अंकन उपलब्ध है जिसके आधार पर इस रंगशाला के चित्रांकन के समय का अंदाज लगाया जा सकता है। एक चित्र में राव उम्मेदसिंह (1739-1770) को श्रीनाथजी की सेवा-पूजा करते अंकित किया गया है तो दूसरे में राव बिशनसिंह (1770-1821) को महफिल में नृत्य का आनन्द लेते दर्शाया गया है। एक चित्र में राव बिशनसिंह गद्दी पर बैठे हैं और सामने बूढ़े राव उम्मेदसिंह (श्रीजी) बैठे विचार-विमर्श कर रहे हैं। उनकी दाढ़ी और सिर के बाल सफेद हैं।

दरवाजे के सामने बरामदे के गर्दने पर एक सवारी का लंबा पैनल अंकित है।.हाथियों का लवाज़मा, घुड़सवार, फिर पदातिकों की लंबी कतार। पैदल सवार और घुड़सवारों के आगे हल्के नीले ईरानी घोड़े पर सवार राव बिशनसिंह का चित्र है। सामंती परिवेश के अनुसार झंडा, माही मरातिब', मोरछल, अडासी, सग्गड़, हाथी, भिश्ती तथा अन्य सवारी के लोग चित्रांकित किये गये हैं।

इन सबसे ज्ञात होता है कि सन् 1749 में राव उम्मेदसिंह के हाथ में बूँदी का राज्य आने के बाद ही इस चित्रशाला का निर्माण हुआ होगा तथा उनके समय में और उसके बाद उनके पौत्र बिशनसिंह के समय (1770-1821) में चित्रशाला के भित्ति-चित्रों का विस्तार से अंकन हुआ होगा। यही कारण है कि इस चित्रशाला में कई कलम (रंगीन चित्र-14) देखने को मिलती हैं।

धूप और बरसात की मार से ये संरक्षित भित्ति-चित्र दिन प्रतिदिन खराब होतें जा रहे हैं, किन्तु फिर भी बूँदी के महलों की यह चित्रशाला राजस्थान के भित्ति-चित्रों में एक अनोखी दाय है। इनमें बूँदी कलम का वर्चस्य दर्शनीय है। बूँदी शहर में लघुचित्र और सचित्र ग्रंथ देख पाना तो अब दुर्लभ हो गया है, इसलिए इस कलानगरी में इन भित्ति-चित्रों को देखकर ही संतोष कर लेना पड़ता है।

विषयवस्तु और रंग-रेखांकन की दृष्टि से इन चित्रों में वैविध्य है। सामंती-जीवन, कृष्ण-चरित्र, नायिका-भेद, रागरंग, आमोद-प्रमोद, शिकार तथा पशुओं की लड़ाई (रंगीन चित्र-14) के अनेक चित्र इस रंगशाला की धरोहर हैं।

सामंती परिवेश के अंकन में बड़े-बड़े महल, बारहदरी, बाग-बगीचे, दरबारी-व्यवस्था तथा तीज, दशहरा, होली, गणगौर की सवारी का वैभवपूर्ण अंकन इन भित्ति-चित्रों की विशेषता है। महफिलों में नाच-गान और रागरंग के समूह-चित्र भी बड़े पैनल पर बनाये गये हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नायक-नायिकाओं के व्यक्ति-चित्र अत्यधिक प्रभावशाली बन पड़े हैं । कहीं नायिका हाथ में कलम-नाल लिये है, तो कहीं हुक्का पीती हुई अंकित की गयी है । कहीं पतंग उड़ाती, कहीं बाज और कबूतर से खेलती, कहीं सुरापान करती और कहीं प्रियतम का इन्तजार करती अंकित है । वेशभूषा में मुगल प्रभाव अधिक है । नायिका-भेद के अनुसार वासगसज्जा, अभिसारिका नायिका का जहाँ चित्रण है, वहीं राग-रागिनियों का अंकन भी इस चित्रशाला में द्रष्टव्य है । लोककथाओं के अनुकरण पर नायिकां से तूफानी नदी को घोड़े पर बैठकर पार करते सामंती नायक एवं ढोला-मारू जैसे ऊँट आदि का चित्रण भी मनोहारी बन पड़ा है ।

यहाँ कृष्ण-लीला के भित्ति-चित्र भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं । गौचारण, चीरहरण, गोवर्धन-धारण, रासलीला, शृंगार-लीला के अनेक चित्र पारंपरिक वेशभूषा में बनाये गये हैं । मंदिर में राव उम्मेदसिंह (श्रीजी) को सेवा-पूजा करते हुए भी अंकित किया गया है ।

दीवार के नीचे के भाग में कत्थई रंग का आराइश है और सफेदे से हाथी-घोड़ों का जो विस्तृत अंकन हुआ है, वह बूँदी शैली की निजी विशेषता है । हाथियों की लड़ाई (रंगीन चित्र-14), बिगड़े हाथी को वश में करने की प्रक्रिया, घोड़ों का ऊर्जापूर्ण अंकन यहाँ देखते ही बनता है ।

रंगशाला की छत को अनेक ज्यामितिक आकारों, फूल-पत्तियों और शीशों से सुसज्जित किया गया है ।

सुघड़ रेखांकन, पिश्तई जमीन पर अनेक रंगों की छटा तथा राजपूती वेशभूषा के साथ मुगलई पहनावा, हरा-भरा परिवेश, कमल और पक्षियों से पूरित सरोवर और नदियाँ, पशुओं से भरे जंगल, रंग-बिरंगे फूलों से लदे वन-उपवन और मुगलई ढंग के फव्वारों से युक्त बगीचे । प्रांगण, बारहदरियाँ, बूँदी शैली की छतरियों से सुसज्जित महल-मालिए, मंदिर, होदियाँ – यह सारी छटा चित्रशाला को आज भी जीवन्त बनाये हुए है ।

बूँदी-शैली के विषय

संसारभर में बूँदी-शैली के चित्र बहुलता से उपलब्ध होते हैं, अतः उनके चित्रांकन की विषयवस्तु भी वैविध्यपूर्ण है । रागरागिनी, नायिकाभेद, ऋतु-वर्णन, बारहमासा, कृष्णलीला, रामलीला तथा अनेक संस्कृत और हिन्दी ग्रंथों का चित्रण बूँदी-शैली की निजी विशेषता रही है । रसिकप्रिया, कविप्रिया, बिहारी सतसई, रसराज जैसे ग्रंथों या स्फुट पदों का चित्रांकन बूँदी-शैली में देखते ही बनता है । वल्लभकुल की प्रधानता के कारण कृष्ण-चरित्र का अंकन बूँदी-शैली का प्रिय विषय रहा है ।

बूँदी पुरानी स्टेट रही है, अतः सामंती परिवेश का विस्तृत चित्रांकन इस शैली में विशेष द्रष्टव्य है । दरबार, शिकार, तीज-त्यौहार तथा अन्य उत्सव, (श्वेत श्याम चित्र 8-1)हाथियों की लड़ाई, घुड़दौड़, रागरंग (श्वेत श्याम चित्र 8-2),

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

महफिल तथा राजाओं, सामंतों आदि के व्यक्तिचित्रों का अंकन बूँदी-शैली में बहुलता से मिलता है। ऐसा कोई विषय अछूता नहीं रहा जिसका बूँदी-शैली में चित्रांकन न हुआ हो।

विशेषताएँ

प्रारम्भिक बूँदी-शैली में नायक-नायिकाओं के अंग-प्रत्यंगों की बनावट और रंगों का सम्मिश्रण मेवाड़ शैली जैसा ही है। 17वीं शती के चित्रों में नारी के चेहरे की बनावट, फूल-पत्तियों की योजनाबद्धता, तारों भरे आकाश आदि का चित्रण दक्षिणी शैली से तथा राजसी वैभव और विलास मुगल शैली से प्रभावित होते हुए भी अपनी निजी मौलिकता के कारण विशेष प्रसिद्ध रहा है।

बूँदी-शैली की आकृतियाँ साधारणतः लम्बी, शरीर पतले और स्फूर्तिदायक (रंगीन चित्र-13) दिखायी देते हैं। स्त्रियों के अधर अरुण, नासिका साधारण छोटी, मुख गोलाकृत (श्वेत श्याम चित्र- 8-2) और चिबुक पीछे की ओर झुकी छोटी होती है। ग्रीवा छोटी और अलंकारों से आच्छादित, वक्ष आगे निकला, कंचुकी से कसा हुआ, कटि क्षीण तथा स्फूर्तिदायक भाव-भंगिमा आदि शैली की अपनी विशेषताएँ हैं। पुरुषों की आकृति में नीचे की ओर झुकी पगड़ियाँ, लम्बे जामे, कमर में दुपट्टा तथा पैरों में चुस्त पाजामा (रंगीन चित्र-13) रहता है। अनेक अलंकारों से युक्त नीलवर्ण या गौरवर्ण के पुरुष शैली में द्रष्टव्य हैं।

शैली की दूसरी प्रमुख विशेषता है, प्रकृति का सुरम्य सतरंगा चित्रण (श्वेत श्याम चित्र- 8-2)। बूँदी का जैसा प्राकृतिक वैभव है उसके अनुकूल ही उसका चित्रण है। रंग-बिरंगे बादलों से युक्त नीला-आकाश, मयूर, गिलहरी, शुक, बगुला, हिरण, बन्दर, हाथी, सिंह आदि से युक्त प्राकृतिक परिवेश (रंगीन चित्र-13), सघन वन-उपवन में अनेक प्रकार के फूल और फलों से लदे हुए वृक्ष, लता, पौधे, कमलों से आच्छादित सरोवर, जिन्में केलि करते हुए हंस, वकुल और मछलियाँ। संक्षेप में प्रकृति का सौन्दर्य जितना विराट, विविध और रंजित बूँदी शैली में मिलता है, वैसा किशनगढ़ शैली को छोड़कर अन्यत्र दुर्लभ है।

शैली की तीसरी विशेषता है – स्थापत्य का सुव्यवस्थित अंकन (श्वेत श्याम चित्र 8-2), गोल- गुम्बदाकार और घुमावदार राजस्थानी छतरियाँ (श्वेत श्याम चित्र 8-1), आकाश की ओर उन्मुक्त स्वर्ण-कलश, छज्जों के नीचे से झाँकते वातायन, लाल पत्थर की विविध बेल-बूँटों में काटी गई जालियाँ, मणि-कुट्टिम से सुसज्जित दीवारें और प्राँगण, वैभव और विलास का पूर्ण साम्राज्य, रेशमी पर्दे और गद्दे, चित्रों के भीतर से झाँकती रीतिकालीन सज्जा (श्वेत श्याम चित्र 8-2) आदि बूँदी शैली में कलात्मकता एवं सूक्ष्मता से चित्रित की गयी हैं। बूँदी शैली में रंगों का सतरंगा प्रयोग है, किन्तु फिर भी श्वेत, गुलाबी, सुनहरी, लाल, हिंगुल, हरा आदि रंगों (रंगीन चित्र-13) का बहुलता से प्रयोग हुआ है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कोटा-शैली

हाड़ौती के दक्षिण-पूर्वी संभाग में कोटा औद्योगिक दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण जिला है। चौहान राजपूतों की हाड़ा शाखा के प्रभुत्व के कारण हाड़ौती का यह प्रान्तर प्राचीन समय से ही कलात्मक धरोहर के लिए प्रसिद्ध रहा है। सत्रहवीं शती के प्रारम्भ तक हाड़ौती की राजधानी बूँदी रही और कोटा वहाँ के राजकुमारों की जागीर में रहा। सन् 1624 में बूँदी के राव रतन के राजकुमार माधोसिंह की वीरता, कूटनीति एवं सेवा के कारण कोटा को अलग राज्य का दर्जा दे दिया गया और इस प्रकार कोटा 360 गाँवों का हाड़ाओं का दूसरा राज्य बन गया।

राव माधोसिंह (1624-1649) मुगल दरबार के महत्त्वपूर्ण शक्तिशाली कमाण्डर थे, जिन्होंने अटक से लेकर सिन्धु नदी तक मुगलों की ओर से महत्त्वपूर्ण लड़ाइयाँ लड़ीं साथ ही अपने राज्य को भी स्थायित्व प्रदान किया। राव माधोसिंह के बाद उनके पुत्र राव मुकुन्दसिंह गद्दी पर बैठे। इन दोनों राजाओं ने ही कोटा के स्थापत्य और कला को बढ़ावा दियां; किन्तु इनके समय में चित्रकला पर बूँदी कलम का ही पूर्ण प्रभाव था।

उद्भव और विकास

कोटा शैली का अलग व्यक्तित्व सन् 1952 में उस समय प्रकाश में आया जब कर्नल डी. जी. गैयर एण्डरसन ने अपना निजी संग्रह विक्टोरिया एण्ड अल्बर्ट म्यूजियम, लन्दन को भेंट किया। इसमें कुछ चित्र बूँदी से भिन्न पाये गये, जिनके आधार पर कोटा राज्य में घोषित चित्रशैली का ज्ञान हुआ।

चित्रकला के उत्कर्ष की दृष्टि से कोटा शैली बूँदी शैली की ही प्रशाखा मानी जा सकती है, किन्तु अपनी मौलिक एवं अलग दाय के कारण उसका अस्तित्व हाड़ौती स्कूल की कोटा-शैली के अन्तर्गत ही माना जाना चाहिए। बूँदी और कोटा में केवल तीस किलोमीटर की भौगोलिक दूरी रही है तथा पैतृक राज्य होने के कारण बूँदी की संपूर्ण सांस्कृतिक परम्परा कोटा को विरासत में मिली। कलाकारों और चितारों के आदान-प्रदान के कारण प्रारंभिक कोटा के चित्र बूँदी-शैली के पूर्ण प्रभाव से युक्त हैं, अतः बूँदी और कोटा के चित्रों में अलगाव करना बड़ा कठिन कार्य है। राव माधोसिंह (1624-1649) राव मुंकुन्दसिंह (1649-1658) के समय के चित्र बूँदी-शैली की परम्परा में ही गिने जाते हैं। उस समय के चित्रों में कोटा-शैली की विशेषता खोज पाना कठिन कार्य है तथा यह निर्धारण करना कठिन है कि ये बूँदी राज्य में बने या कोटा में। राव माधोसिंह और राव मुकुन्दसिंह के समय की स्थापत्य कला के प्रमाण अवश्य मिलते हैं।

कोटा शैली का स्वतंत्र इतिहास राज्य की स्थापना के उपरान्त से ही माना जाना चाहिए, किन्तु उपलब्ध सामग्री के आधार पर 17वीं शती के अंत से इसका विकास माना जाता है।[10] कोटा कलम में बूँदी की सर्वाधिक पूर्वपीठिका के साथ ही चेहरों की बनावट में भेद एवं मुगलिया प्रभाव राव जगतसिंह के राज्यकाल (1657-1684) से देखने को मिलता है।[11] गोपीकृष्ण कानोड़िया संग्रहालय की राव जगतसिंह की तस्वीर इस बात की साक्षी है। दूसरा महत्त्वपूर्ण साक्ष्य राजकीय संग्रहालय, कोटा का प्रसिद्ध भागवत पुराण है जिसे आज तक मेवाड़ स्कूल का

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

माना जाता रहा है। यह सचित्र ग्रंथ मेवाड़ी विशेषताओं से युक्त होने पर भी कोटा कलम के बीजारोपण से सर्वथा मुक्त नहीं है। यह निश्चित हो गया है कि राव जगतसिंह के शासनकाल में कोटा दरबार में ही इसका निर्माण हुआ।[10] राव जगतसिंह कला-प्रेमी थे, अतः उनके दरबार में बूँदी दरबार की परम्परा में गुणीजन खाना, मुसव्विर खाना रहा होगा; जहाँ बूँदी, मेवाड़ और कोटा के कलाकारों का जमघट अवश्यम्भावी है।

राव रामसिंह (1696-1707) के समय में कोटा-शैली का समुचित विकास हुआ। उन्होंने कला को संरक्षण देकर कोटा कलम के लिए नवीन मार्ग प्रशस्त किया। उनके समय के अनेक चित्र उपलब्ध हैं[13] जिन पर बूँदी-शैली का प्रभाव होते हुए भी चेहरे की बनावट, वेशभूषा एवं प्रकृति-परिवेश पर कोटा-शैली की प्रमुख छाप है।

कोटा-शैली में दूसरा मोड़ महारावल भीमसिंह प्रथम (1707-1720) के समय में उस समय आया जब वे मुगल बादशाह फारूख शायर की मृत्यु के बाद दिल्ली से मथुरा होकर लौट रहे थे, तब उनकी मुलाकात वल्लभकुल के गोस्वामी गोपीनाथजी से हुई। वे उनसे इतने प्रभावित हुए की उन्होंने वल्लभ-संप्रदाय में दीक्षा ले ली एवं ब्रजनाथजी की सेवा-पूजा में लग गये। महलों में ब्रजनाथजी का एवं बाराँ में साँवलाजी का मंदिर बनवाकर महल एवं राज्य भगवान के चरणों में अर्पित कर दिया तथा स्वंय उनके दीवान बनकर राज्य कार्य करने लगे। यही नहीं, उन्होंने अपना नाम 'कृष्णदास' धारण किया एवं कोटा का नाम 'नन्दग्राम' तथा शेरगढ़ का नाम बरसाना रखकर कोटा साम्राज्य को ब्रजभूमि बना दिया।[14]

कलाओं पर इसका गहन प्रभाव पड़ा और कृष्ण-चरित्र लीलाओं का विस्तार से चित्रण होने लगा। अष्टयाम की सेवा-पूजा एवं वर्षभर के उत्सवों के कारण कोटा के चितारे अपने आश्रयदाता के मनोनुकूल चित्र बनाने में जुट गये, इसलिए कोटा कलम में कृष्ण-चरित्र उसकी महत्त्वपूर्ण विशिष्टता बन गई। सन् 1720 में मुगलों की ओर से लड़ते हुए नर्वदा के किनारे उनकी मृत्यु हो गयी।

महारावल भीमसिंह प्रथम के बाद महारावल अर्जुनसिंह, महारावल दुर्जनशाल (1724-1747) ने कृष्ण-भक्ति-परम्परा का सम्मान के साथ निर्वाह किया। वल्लभ-संप्रदाय की सात पीठों में प्रथम पीठ मथुरेशजी की है जो सैकड़ों वर्षों से कृष्ण-भक्ति-परम्परा को आन्दोलित करती रही है।[15] इस स्वरूप को सन् 1744 में कोटा लाकर स्थापित करने का श्रेय महारावल दुर्जनशालजी को है। महारावल दुर्जनशालजी कृष्ण-भक्ति-परम्परा के महत्त्वपूर्ण सेवकों में थे, अतः समय-समय पर कोटा में वे जन्माष्टमी, दीपावली, अन्नकूट, राधा-अष्टमी, होली आदि के अवसर पर पुष्टि-संप्रदाय के अनुकूल राजकीय आयोजन बड़ी धूमधाम से करते थे,[16] जिसका प्रभाव यहाँ की चित्रकला पर विस्तार से पड़ा है। यही कारण है कि कृष्णलीला के अनेक चित्र कोटा-शैली में इसी परम्परा की देन हैं।

महारावल दुर्जनशाल के बाद महारावल शत्रुशाल (1749-1766) का नाम कोटा कलम के उत्थान के लिए विशेष उल्लेखनीय है। उनके समय में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

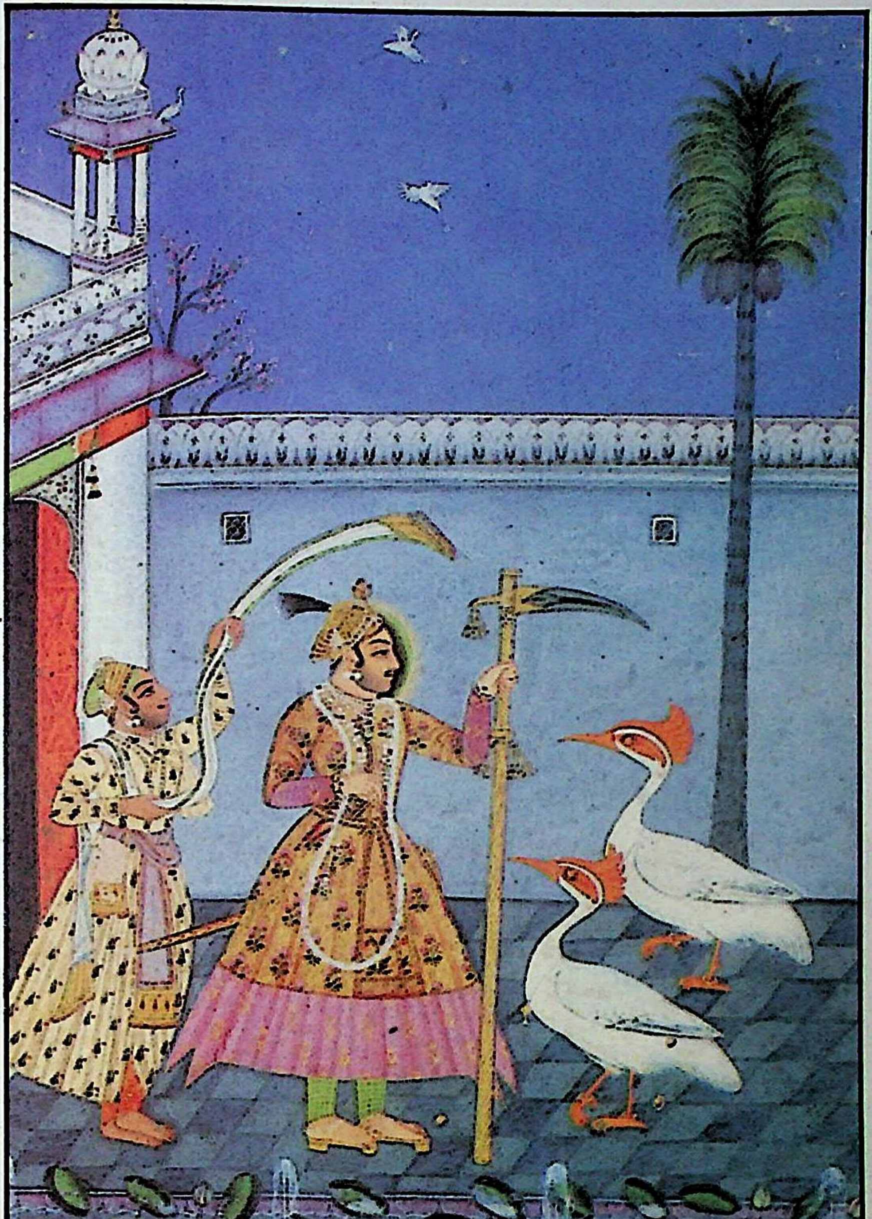

चित्र 13 : पक्षियों से प्यार : बूँदी शैली, 18वीं शती मध्य

(महाराजा बूँदी के निजी संग्रह से)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

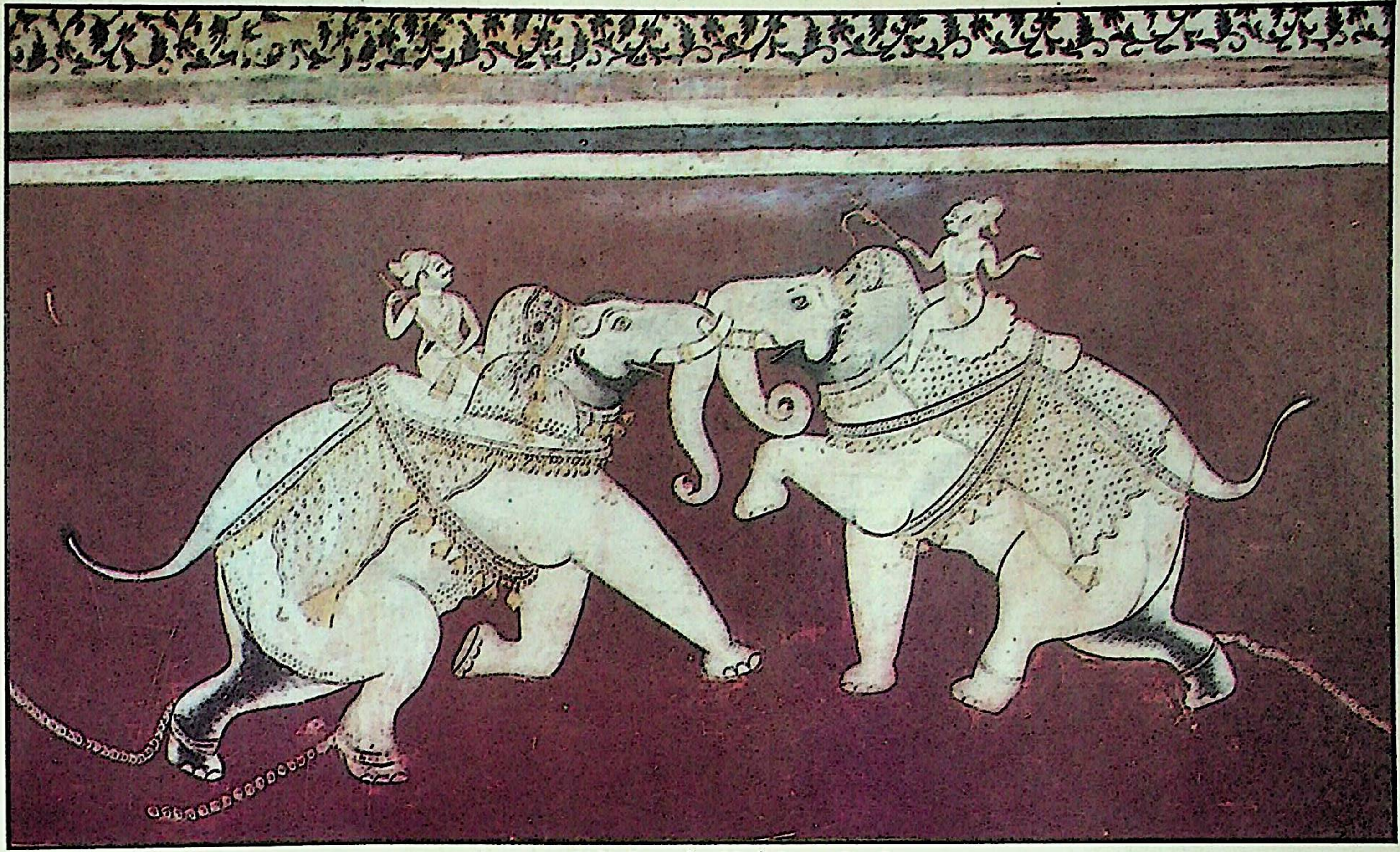

चित्र 14 : हाथियों की लड़ाई : बूँदी शैली, 18वीं शती मध्य
(चित्रशाला, बूँदी का भित्ति-चित्र)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्र 15 : महाराजा रामसिंह (II) की शाही सवारी का जुलूस : कोटा शैली, 19वीं शती
(कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

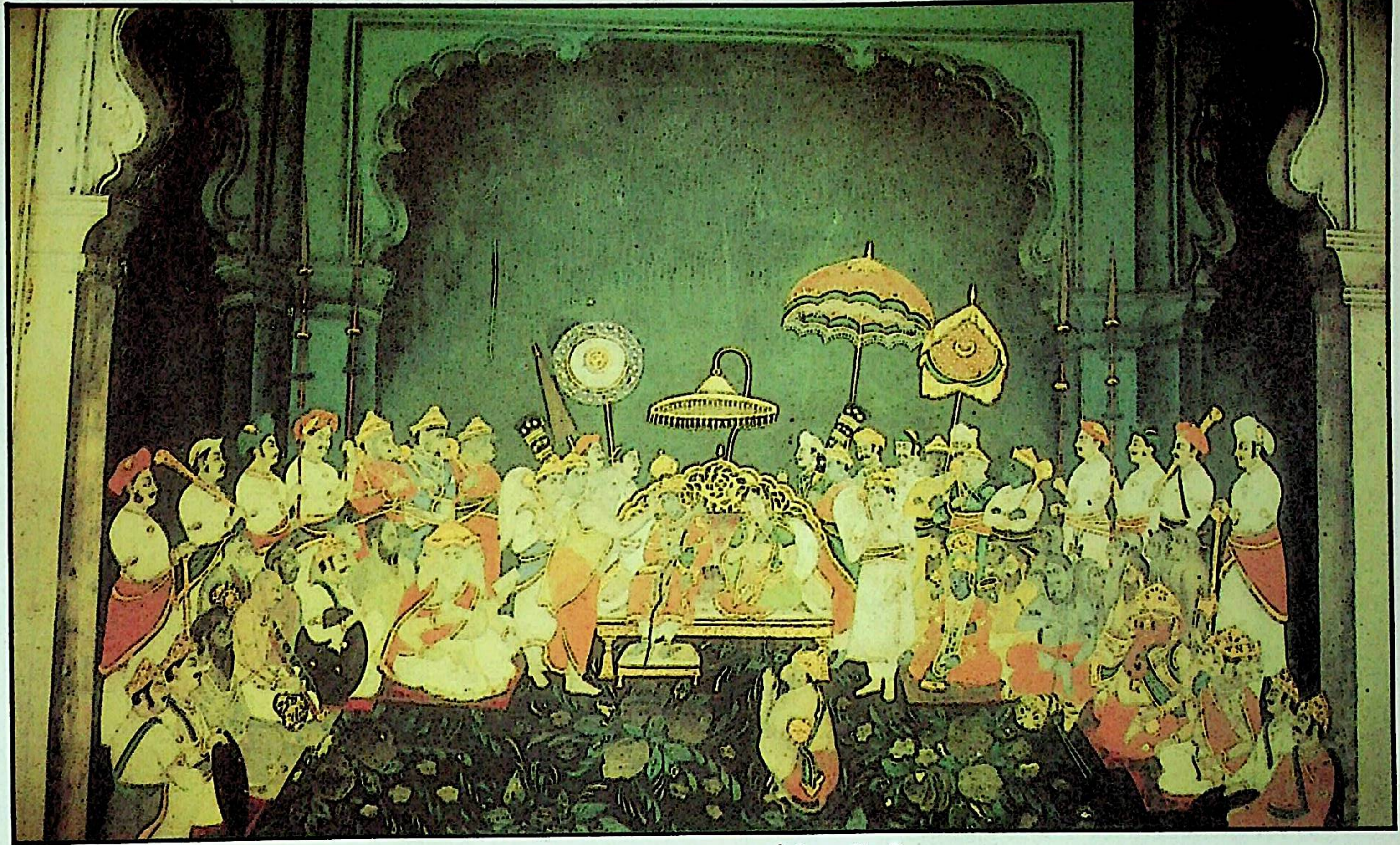

चित्र 16 : राम-दरबार : झालावाड़ शैली, 19वीं शती
(राजमहल, झालावाड़ (जिलाधीश कार्यालय) का भित्ति-चित्र)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जालिमसिंह झाला कोटा दरबार से जुड़े, जिन्होंने अपनी सूझबूझ, चतुराई, वीरता और विशिष्ट व्यक्तित्व के कारण फौजदार के पद पर रहकर कोटा राज्य को स्थायित्व प्रदान कर समृद्धशाली बनाया। इनके समय में पूर्व पारंपरिक कोटा कलम विकसित होती रही। राजकीय संग्रहालय, कोटा का भागवत का लघु सचित्र-ग्रंथ इन्हीं के राज्यकाल में चित्रित हुआ। कन्हैया ब्राह्मण द्वारा नन्दगाँव (कोटा) में वि. सं. 1816 (1759) में 1190 पन्ने में लिखित एवं छोटे-बड़े 4760 चित्रों से सुसज्जित यह ग्रंथ मेवाड़- बूँदी और विशेषत: कोटा कलम की अनुपम दाय है।[17] इन्हीं के राज्यकाल में चित्रित दूसरा महत्त्वपूर्ण सचित्र-ग्रंथ राजस्थानी लोककथा ढोला-मारू का है, जो सन् 1762 में नन्दगाँव (कोटा) में ही चित्रित किया गया।[18] इसके साथ ही कृष्ण-चरित्र, शिकार, रागरागिनी, बारहमासा आदि विषयों से संबंधित चित्र भी कोटा कलम में विस्तार से बने जो कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर एवं राव माधोसिंह म्यूजियम ट्रस्ट, सिटी पैलेस, कोटा में विशेष द्रष्टव्य हैं।

महारावल शत्रुशाल नाऔलाद रहे, अत: उनके बाद उनके भाई गुमानसिंह सन् 1766 में गद्दी पर बैठे। वे कला-प्रेमी एवं कलाओं को संरक्षण देने वाले राजा थे। उनके समय का संपूर्ण रागमाला सैट कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण दाय माना जाता है। छ: राग छत्तीस रागिनियाँ एवं उनके पुत्र-प्रपौत्र आदि के चित्रण सम्बन्धी 240 लघुचित्र सरस्वती भण्डार, उदयपुर में उपलब्ध हैं। सन् 1768 में डालू नाम के चित्रकार द्वारा चित्रित एवं रामकिशन द्वारा लिखित यह कोटा कलम का सर्वाधिक बड़ा रागमाला सैट माना जाता है।[19]

भित्ति-चित्रण

कोटा शैली में तीसरा मोड़ महाराव उम्मेदसिंह के समय (1771-1820) में आया। महाराव गुमानसिंह ने मरते समय युवराज उम्मेदसिंह को मामाजी राज जालिमसिंह झाला के सुपुर्द कर दिया, इसलिए वीर एवं चतुर अनुभवी झाला के संरक्षण में महाराव उम्मेदसिंह का व्यक्तित्व प्रभावशाली बना। जालिमसिंह झाला स्वयं कलाप्रेमी दीवान थे, अत: उन्होंने कोटा के किले एवं महलों (श्वेत श्याम चित्र- 15 एवं 16) को नया रूप दिया एवं स्वयं के लिए एक विशाल हवेली का निर्माण करवाया। झाला हवेली के नाम से विख्यात यह भवन भित्ति-चित्रों की अमूल्य धरोहर है जिसमें कोटा कलम का वैभव आज भी धुँधले रूप में देखा जा सकता है।

हवेली के ऊपरी कमरों में धार्मिक चित्र हैं जिनमें दशावतार, कृष्ण का वेणु-वादन, दान-लीला तथा श्रीनाथजी की विभिन्न झाँकियों के इकत्तीस चित्र सुशोभित हैं। श्रृंगार-चित्रों में राधाकृष्ण की लीलाओं के अतिरिक्त नायिकाओं के चित्रों में दर्पण देखती, सारस युग्म को निहारती, चौकी पर बैठकर सखी से वार्तालाप करती तथा सेविकाओं का चित्रण मनोहारी बन पड़ा है।

बारहमासा, रागरागिनी तथा सामंती वैभव का चित्रण भी इस हवेली में बेजोड़ है। रागिनी बिलावल, टोडी, हिंडौल आदि का चित्रण परम्परा के अनुसार हुआ है। सामंती वैभव में उत्सवों, महफिलों के अतिरिक्त झाला हवेली में शिकार का अद्‌भुत चित्रण हुआ है। महाराव उम्मेदसिंह के समय में कोटा-शैली में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

शिकार का चित्रण बहुलता से हुआ है। मामाजी राज जालिमसिंह झाला को बुढ़ापे तक शिकार का शौक था, अतः उनकी हवेली में शिकार का विस्तृत अंकन हुआ है। इस हवेली की एक दीवार पर शिकार का एक बड़े आकार का (6.65 मीटर × 64 सेण्टिमीटर) दृश्य अंकित है जिसमें झाला के साथ महाराव उम्मेदसिंह भी अंकित हैं। कोटा के घने जंगल, पेड़-पौधे, झुरमुटों के बीच शेर, सूअर, हिरण, जंगली भैंसे आदि का चित्रण घोड़ों-हाथियों और मचानों पर बैठकर प्रभावशाली ढंग से किया गया है।

कोटा के चित्रकारों ने इस हवेली में बड़े मनोयोग से चित्रांकन किया है। इनके निर्माण का समय महाराव उम्मेदसिंह का समय 1771-1820) माना जा सकता है। निश्चय ही 18वीं शती अंत में ये चित्र बने होंगे, क्योंकि कर्नल टॉड के मतानुसार झाला जालिमसिंह ने कोटा राज्य पर मराठों के बढ़ते दबाव के कारण इस हवेली में वि. सं. 1860 (सन् 1803) के बाद रहना त्याग दिया था।

इसी प्रकार कोटा राजमहल के भित्ति-चित्र भी उपर्युक्त परम्परा में ही बने हुए हैं। छत्र महल के निर्माण का श्रेय राव शत्रुशाल को है, किन्तु इसके चित्र बाद के बने हुए हैं, जिनमें राजसी वैभव के चित्रण के साथ ही शिकार का अंकन भी विस्तार से हुआ है। हिरण, शूकर, सिंह, जंगली भैंसे और गैंडे के शिकार का अंकन छत्र महल में मिलता है। भागवत पुराण एवं कृष्ण-लीला का चित्रण भी विशेषतः हुआ है, पर पुराने चित्रों पर पुनर्अंकन 18वीं शती अंत का लगता है। बड़ा महल बड़राव माधोसिंह (1624-49) ने बनवाया था, किन्तु उसके भित्ति-चित्र (श्वेत श्याम चित्र-15) भी 18वीं शती अंत और 19वीं शती प्रारम्भ के बने लगते हैं। विषय-वस्तु की दृष्टि से सामंती दरबार, उत्सव, जुलूस, शिकार और शृंगारी-चित्रों का अंकन विशेष हुआ है। दरबार के चित्रों में महाराव उम्मेदसिंह के सम्मुख अनेक सामंतों को चित्रित किया गया है। बाद की परम्परा के अनुसार लघुचित्रों, बस्तियों को दीवार पर लगाकर शीशे से साँट दिया गया है।

कोटा के महलों में राजमहल का स्थान प्रमुख है, क्योंकि कोटा रियासत के समस्त राजकीय उत्सव जैसे राज्यारोहण, दरबार आदि यहीं आयोजित होते रहे हैं। इसकी दीवारों पर बने भित्तिचित्रों में कृष्ण-लीलाओं तथा रुकमणि विवाह के चित्र बड़ी सजावट से अंकित किये गये हैं। अर्जुन महल के चित्र 19वीं शती उत्तरार्द्ध के प्रतीत होते हैं। अंगड़ाई लेती, काँटा काढ़ती, गोद में शिशु को स्तनपान कराती, आलस्य में मदमाती नायिकाओं चंवर धारिणी (श्वेत श्याम चित्र 16) का अंकन कोटा कलम के उत्तरार्द्ध को प्रदर्शित करता है।

कोटा के उपर्युक्त राजमहलों के बने भित्तिचित्र राजस्थान के भित्तिचित्रों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं।

राजराणा मामाजी राज जालिमसिंह झाला की दीवानगिरी में कोटा साम्राज्य महाराव उम्मेदसिंह के समय में सुरक्षित एवं समृद्धि से परिपूर्ण था। जवान महाराव को शिकार का अत्यधिक शौक था। कोटा का गहन एवं विकट जंगल शिकार के लिए अत्यधिक उपयुक्त था, इसलिए इस मोड़ पर आकर कोटा कलम ने एक विशिष्टता हासिल की। कोटा के मुसव्विरखाने के कलाकारों ने भित्तियों पर तो बड़े-बड़े चित्र बनाये ही, साथ ही बड़ी-बड़ी वसलियों पर शिकार का समूह-चित्रण

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कर कोटा-शैली को विशिष्टता प्रदान की। कोटा-शैली में सर्वाधिक चित्रों का निर्माण महाराव उम्मेदसिंह प्रथम के समय में ही हुआ। शिकार में वे मुसव्विरों को भी साथ में रखते थे और जब वे चित्र बनाकर देते थे तो उन्हें बड़ी-बड़ी इनाम देते थे जिससे कला अधिक प्रोत्साहित होती थी।

49 वर्ष के राज्यकाल में महाराव उम्मेदसिंह प्रथम ने कोटा कलम को प्रश्रय देकर उसे उत्कृष्टता प्रदान की। मेवाड़ एवं हाड़ौती के कलाकारों ने मिलकर कोटा-शैली को एक नयी चमक प्रदान की। शिकार के अतिरिक्त रागमाला, बारहमास, नायक-नायिका भेद, कृष्ण-लीला, श्री ब्रजनाथजी की उत्सव-लीला आदि संबंधी असंख्य चित्र बने जो कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर, राव माधोसिंह म्यूजियम ट्रस्ट, कोटा, राजकीय संग्रहालय, कोटा, राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी-दिल्ली में बहुलता से उपलब्ध होते हैं। राजकीय संग्रहालय, कोटा में उपलब्ध 45-पृष्ठीय 'वल्लभोत्सव चंद्रिका' ग्रंथ इन्हीं के समय[20] का (सं. 1861 अर्थात् सन् 1805) एक कलात्मक ग्रंथ है, जिसमें 38 बहुमूल्य चित्र हैं। इसमें महाप्रभु वल्लभाचार्यजी, उनके 7 पुत्र, 7 स्वरूप तथा बारहमास के विभिन्न उत्सवों का कोटा कलम में उत्कृष्ट चित्रण हुआ है।[21] दूसरा गीता-पंचमेल भी ऐसा ही ग्रंथ है जिसमें राधाकृष्ण तथा स्वरूप संबंधी 6 चित्र हैं।

महाराव उम्मेदसिंह के समय में ही कोटा साम्राज्य ईस्ट इण्डिया कंपनी के प्रभाव में आ गया था,[22] इसलिए धीरे-धीरे कोटा कलम में भी पाश्चात्य प्रभाव आने लगा। 1819 में महाराव उम्मेदसिंह की मृत्यु हो गयी तथा 1824 में राजराणा जालिमसिंह की भी 84 वर्ष की उम्र में मृत्यु हो गयी, अतः राज्य की अव्यवस्था में कला का वह वैभव भी धीरे-धीरे पतनोन्मुख होने लगा।

महाराव रामसिंह 1828 में गद्दी पर बैठे। वे भी कला-प्रेमी राजा थे, अतः उनके समय में भी कोटा शैली के दरबार के, उत्सवों के, सवारियों के (रंगीन चित्र-15), शिकार के बड़ी-बड़ी वसलियों पर विस्तार से चित्र बने। हाथी और घोड़े की सवारी उन्हें अधिक प्रिय थी, अतः जुलुसों में उन्हें मरोड़दार दाढ़ी में राजसी वेशभूषा पहने हुए हाथी (रंगीन चित्र-15) या घोड़े पर बैठे हुए अधिक अंकित किया गया है। वे चमत्कारी राजा थे, अतः चमत्कृत कर देने वाले दृश्यों जैसे महल की छत पर घोड़े की सवारी, छतरी पर हाथी की सवारी, हाथी की सूँड पर नर्तकी का नृत्य आदि कलाकारों द्वारा अंकित किये गये। परम्परानुसार शिकार के चित्र एवं महलों में होली-दीपावली के जुलूसों के चित्र भी भित्ति-चित्रों पर इनके समय (1828-1865) में चित्रित किये गये।

1857 के गदर के बाद कोटा कलम पर कंपनी शैली का प्रभाव आने लगा और महाराव शत्रुशाल द्वितीय के समय (1865-1888) में पारंपरिक चित्रों में रेखाओं और रंगों में भारीपन और भदेसपन झलकने लगा तथा व्यक्तिचित्रों में कैमरे का प्रभाव साफ दृष्टिगोचर होने लगा। इस प्रकार हाड़ौती स्कूल की कोटा कलम अन्य राजस्थानी शैलियों की भाँति धीरे-धीरे पतनोन्मुख हो गयी।

कोटा-शैली की विशेषताएँ

कोटा कलम का बूँदी की सांस्कृतिक परम्परा से पूर्णतः प्रभावित होना स्वाभाविक है। बहुत पहले तक बूँदी और कोटा के चित्रों में भेद कर पाना कठिन

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

था, किन्तु धीरे-धीरे चित्रकला का विस्तृत और गहन अध्ययन होने के कारण कोटा-शैली में कुछ अलग विशेषताएँ दृष्टिगोचर होने लगीं; जिससे उसे स्वतंत्र शैली के रूप में गिना जाने लगा ।

कोटा के ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परिप्रेक्ष्य की जानकारी से बहुत से ऐसे तथ्य सामने आते हैं, जिनसे एक समन्वयात्मक संस्कृति का प्रभाव कोटा-शैली पर सहज ही पड़ा । बूँदी कलम के स्थायी प्रभाव के अतिरिक्त मेवाड़ के कलाकारों का योगदान कोटा राज्य में रहा जिससे कोटा-शैली में मेवाड़ी प्रभाव भी आये बिना न रह सका । मुगल दरबार से गहन संबंध होने के कारण कोटा शैली अन्य शैलियों की भाँति मुगल संस्कृति से भी प्रभावित रही । तीसरा प्रभाव कोटा-शैली पर ब्रज संस्कृति का पड़ा, जिससे श्री मथुरेशजी के स्वरूप की स्थापना के साथ ही यहाँ की कला कृष्ण-चरित्र के रंग में रंग गयी । हाड़ौती सामंती रागरंग ने भी कोटा-शैली को पूर्णतः प्रभावित किया ।

उपर्युक्त समन्वित स्वरूप से प्रभावित होती हुई कोटा-शैली ने जो अपना मौलिक आकार ग्रहण किया, उससे उसकी पहचान अलग बन गयी है । वल्लभ-संप्रदाय का प्रभाव होने के कारण नर-नारियों के अंग-प्रत्यंगों का अंकन गोस्वामियों और पुजारियों की भाँति पुष्ट एवं प्रभावशाली है । भारी और गठीला शरीर, दीप्ति-युक्त चेहरा, मोटे नेत्र, तीखी नाक पगड़ियों, अंगरखों तथा नारी सुलभ वेशभूषा (श्वेत श्याम चित्र-15) में राजस्थानी झलक कोटा-शैली की निजी विशेषता रही है ।

कोटा में गहन जंगल रहे हैं, अतः प्रकृति-परिवेश का चित्रण कोटा-शैली में सतरंगा है । शिकार के चित्रों की बहुलता के कारण कोटा-शैली की अलग ही पहचान बन गयी है । शेर, चीते, हिरण, नीलगाय, सूअर आदि पशुओं से भरे जंगल और उनमें घेराव का शिकार करते सामंतों का चित्रण कोटा-शैली की अनोखी दाय है । यह प्रसन्नता की बात है कि लघुचित्रों के साथ ही कुछ बड़ी वसलियों पर शिकार एवं उंत्सव एवं त्यौहारों की सवारी (रंगीन चित्र-15) के समूह-चित्र कोटा-शैली में विशेष बने हैं । लाल, सुनहरी, हरा, श्वेत रंगों का प्रयोग कोटा-शैली में विशेष हुआ है ।

लगभग दो दर्जन कलाकारों की जानकारी उपलब्ध है जिन्होंने कोटा-शैली में विशेष योगदान दिया ।[23]

झालावाड़-शैली

हाड़ौती स्कूल में बूँदी-शैली, कोटा-शैली के बाद झालावाड़ की चित्रकला का भी स्थान है । वैसे तो कोटा शैली का ही झालावाड़ की चित्रकला पर पूर्ण प्रभाव है, किन्तु झालावाड़ के महलों के भित्तिचित्रों (रंगीन चित्र-16) एवं लघुचित्रों में कहीं-कहीं अलग विशिष्टताएँ दृष्टिगोचर होती हैं; जिनके कारण उसको अलग शैली का नाम दिया जा सकता है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सन् 1838 में महाराव रामसिंह कोटा की सलाह से पुराने कलह को समाप्त करने के लिए कोटा रियासत की 17 निजामतें एवं चौमहला की पुरानी जागीर अलग कर राजराणा जालिमसिंह झाला के पौत्र मदनसिंह झाला को दे दी गयी जिससे झालावाड़ स्टेट की नींव पड़ी।

जालिमसिंह झाला 18वीं-19वीं शती के राजस्थान के सर्वाधिक चतुर, योग्य, वीर एवं राजनीतिज्ञ महापुरुष थे। उनके पूर्वज गुजरात के हलवद नामक स्थान से अपना भाग्य आजमाने कोटा आये। महाराव भीमसिंह कोटा ने झाला सरदार माधोसिंह को नान्ता की छोटी-सी जागीर देकर अपनी सेवा में रख लिया। इनके प्रपौत्र जालिमसिंह झाला ने कोटा महारावों की चार पीढ़ियों अर्थात् महाराव शत्रुशाल प्रथम, गुमानसिंह, उम्मेदसिंह और किशोरसिंह के राज्यकाल में बहादुरी, दूरदर्शिता और कूटनीतिपूर्वक फौजदार तथा दीवान के पद पर कार्य कर कोटा साम्राज्य को शक्तिशाली एवं समृद्धशाली बनाया।

महाराव किशोरसिंह के समय से ही मामाजी राजराणा जालिमसिंह झाला का प्रभाव कम हो गया और अंत में महाराव रामसिंह को मजबूर होकर कोटा साम्राज्य का कुछ भाग देकर झाला परिवार से पीछा छुड़ाना अनिवार्य हो गया।

झालावाड़ की कला

झालरापाटन प्राचीन समय से ही ऐतिहासिक नगर रहा है। राजस्थान में सबसे पहला समयांकित शीतलेश्वर महादेव का मंदिर यहीं प्राप्त होता है जिसका मूल भाग सन् 689 में बना। रियासत बनने के बाद जालिमसिंह झाला के उत्तराधिकारियों ने झालावाड़ नगर की अलग से स्थापना की तथा उनकी कलात्मक परम्परा में सुन्दर महल और मंदिर बनवाये। 19वीं शती मध्य में बने ये महल स्थापत्य की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, पर इन महलों के एक भाग को भित्तिचित्रों से सुशोभित कर झालाओं ने अपने पूर्वज जालिमसिंह झाला की कलात्मक परम्परा को कायम रखा।

महल के 5-6 कमरे जहाँ आजकल सरकारी कार्यालय बने हुए हैं, वहाँ उन कमरों के भित्तिचित्र फाइलों, अलमारियों के पीछे दबे अपनी करुण गाथा कह रहे हैं। एक दो कमरों में पुलिस का दफ्तर है और कुछ राजाओं के भित्तिचित्र आतंकित से झाँक रहे हैं, पता नहीं कब उन पर प्लास्टर कर दिया जाये। इन भित्तिचित्रों की निर्माण-परम्परा 19वीं शती मध्य से लेकर 20वीं शती पूर्वार्द्ध तक चली है। पुलिस कार्यालय में अलवर के महाराजा जयसिंह का चित्र कथन का साक्षी है। एक कमरे में झालावाड़ के राजाओं और सामंती परिवेश के चित्र करीने से बने हुए हैं जिनमें राजसी वैभव का उत्तम चित्रांकन है। एक कमरा श्रीनाथजी को समर्पित है। श्रीनाथजी, मथुरेशजी की लीलाओं का अंकन देखते ही बनता है। एक कमरे में मिले-जुले चित्र हैं तथा बेलबूँटों का ज्यामितिक अंकन उत्तम है। छत पर शीशों की जड़ाई का कार्य भी अत्यधिक लुभावना और संतरगा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

है । एक कमरे के आलिए में राम-दरबार (रंगीन चित्र-16) का चित्र अत्यधिक मनोहारी बना हुआ है । यह निश्चय ही है कि कोटा के कलाकारों ने ही आकर इन भित्तिचित्रों को बनाया होगा । सरकार को चाहिए कि उन कलात्मक कमरों से कार्यालय तुरन्त हटाने चाहिएँ और वहाँ झालावाड़ की कला-दीर्घा स्थापित की जानी चाहिए ।

झालावाड़ दरबार के निजी संग्रह में कुछेक लघुचित्र बताये जाते हैं, जिनके आधार पर वहाँ की कला का निर्धारण होना चाहिए ।

सन्दर्भ

1. रघुवीरसिंह : पूर्व आधुनिक राजस्थान, पृ. 47
2. वही :- पूर्व आधुनिक राजस्थान, पृ. 101
3. जगतविदित बूँदी नगर सुख सम्पत्ति को धाम ।
   गीत कवित्त कलानि को जहाँ लोग सुजान ॥
   मतिराम ग्रंथावली (ललित ललाम) सं. कृष्ण बिहारी मिश्र, पृ. 312
4. भोलाशंकर व्यास : मधुमती, अप्रेल-जुलाई, 1962, पृ. 148
5. देखिये, डॉ. रघुवीरसिंह : पूर्व आधुनिक राजस्थान, पृ. 171
6. देखिये, डॉ. मोतीचन्द्र : बूँदी मार्ग 11/2, पृ. 50
7. राग दीपक और रागिनी भैरवी-क्रमशः देखिये-भारत कला भवन, बनारस और नगरपालिका संग्रहालय, इलाहाबाद
8. प्रमोदचन्द्र : बूँदी पेंटिंग, पृ. 3
9. आदर्श बनर्जी : इलस्ट्रेशन्स टु दी रसिकप्रिया फ्रॉम बूँदी-कोटा ललितकला, अंक 3-4, पृ. 67
10. डब्ल्यू.जी. आर्चर : कोटा-मार्ग 11, अंक-2, पृ. 65
11. बृजराजसिंह : दि किंगडम देट वाज कोटा, पृ. 13
12. कार्ल खण्डालवाला : नोट्स ऑन बूँदी एण्ड कोटा पेंटिंग, बुलेटिन ऑफ दि प्रिन्स ऑफ वेल्स म्यूजियम, बम्बई नं. 13
13. देखिए, नगरपालिका संग्रहालय, इलाहाबाद एवं कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर ।
14. देखिए- फाल्गुन गोस्वामी : राजस्थान में पुष्टि-मार्ग, शोध-पत्रिका, भाग-II अंक-2, पृ. 78
15. देखिए- डॉ. जयसिंह नीरज : राजस्थानी चित्रकला और हिन्दी कृष्ण-काव्य, पृ. 71
16. बृजराजसिंह : दि किंगडम दैट वाज कोटा, पृ. 15
17. देखिए, राजकीय संग्रहालय, कोटा, सं. 1950-1130
18. देखिए- राजस्थान रिसर्च इन्स्टीट्यूट, उदयपुर
19. बृजराजसिंह : दि किंगडम दैट वाज कोटा, पृ. 16
20. संवत् ॥1861॥ मासानां उत्तम मासे फाल्गुन मासे शुभ शुक्लपक्षे तिथौ ॥5॥ बुद्धवासरे संपूर्ण भवतु ।
21. देखिए- राजकीय संग्रहालय, कोटा, ग्रंथ सं. 195-3454
22. 25 दिसम्बर, 1817 को ईस्ट इण्डिया कंपनी से कोटा की संधि हुई
23. देखिए- बृजराजसिंह : दि किंगडम दैट वाज कोटा, पृ. 23-24

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

7

ढूँढाड़ स्कूल

प्राचीन समय में जयपुर और इसके आसपास का क्षेत्र ढूँढाड़ कहलाता था। जयपुर, शेखावाटी और अलवर के अधिकतर भाग ढूँढाड़ प्रदेश के नाम से आज भी जाने जाते हैं। विद्वानों का मत है कि ढूण्ढ नामक राक्षस के कारण इस प्रदेश का नाम ढूँढाड़ पड़ा। कुछ का कथन है कि उजड़े हुए और मरु के टीलों से युक्त होने के क़ारण यह प्रदेश ढूँढाड़ कहलाया।[1] ढूँढ नदी भी इसी के नामकरण का प्रमुख आधार मानी जा सकती है।

चित्रकला के विकास की दृष्टि से इस प्रदेश की सीमा रेखाएँ और विस्तृत हो जाती हैं। ढूँढाड़ स्कूल में हम आमेर शैली, जयपुर शैली, अलवर शैली, शेखावाटी शैली, उणियारा उपशैली आदि का विस्तृत अध्ययन कर सकते हैं। ढूँढाड़ प्रदेश की अपनी निजी विशेषता एवं भौगोलिक सीमाएँ हैं जिनके कारण चित्रकला में आदान-प्रदान स्थापित रहा है। शासन के केन्द्रबिन्दु दिल्ली एवं संस्कृति के केन्द्र ब्रज के सम्पर्क में होने के कारण ढूँढाड़ की चित्रकला समय-समय पर नये रंगरूप में विकसित होती रही है।

आमेर-शैली

आमेर-शैली, कछावा-शैली कुशवाह वंश के राजाओं की धरोहर है। दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में ग्वालियर के पास नरवर में इनका वृहद् साम्राज्य रहा। ग्यारहवीं शताब्दी में सोढ़देव अपने पुत्र दूलहराय के साथ ढूँढाड़ प्रदेश में आये और धीरे-धीरे उन्होंने अपने साम्राज्य का विस्तार किया। इनके वंशजों ने दौसा, देवती, खोह आदि के बाद आमेर को अपनी राजधानी बनाया, जो सात सौ वर्षों तक राजधानी रही। इस प्रकार ढूँढाड़ प्रदेश में कुशवाहों का वृहद् साम्राज्य स्थापित हो गया।[2] इन सात सौ वर्षों में आमेर कला और संस्कृति का केन्द्र रहा।

शिलालेखों एवं साहित्य में इस स्थान का उल्लेख 'अम्बावती नगरी' के रूप में उपलब्ध है जिसकी उत्पत्ति अम्बिकेश्वर महादेव के स्वरूप से आँकी जाती है। पुरातात्त्विक दृष्टि से भी यह स्थान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। 7वीं शताब्दी का सूर्य मंदिर तथा प्रतिहारकालीन कल्याणराय का मंदिर कुशवाहों की इस नगरी की पूर्वगाथा संजोये हुए है। आमेर का सर्वाधिक प्रमुख कलात्मक स्मारक

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

यहाँ का राजप्रासाद है, जो आमेर के महलों के नाम से जगत-विख्यात है। इसका निर्माण प्रारम्भिक कछवाह नरेशों द्वारा किया गया, किन्तु इसका विस्तार महान् मुगल सम्राट अकबर ने सिपहसालार महाराजा मानसिंह द्वारा किया गया और बाद में तो कलात्मक श्रृंखलाएँ जुड़ती चली गयीं। इस समयावधि में इन महलों में "गणेश-पोल", "दीवाने-आम", "दीवाने-खास", "जस-मंदिर", "सोहाग-मंदिर", "भोजनशाला" आदि कक्षों का कलात्मक निर्माण हुआ।

कुशवाहों की समृद्ध-परम्परा होने के कारण आमेर की चित्रकला कला के विकास की महत्त्वपूर्ण कड़ी है। प्राचीनतम उदाहरण तो अनुपलब्ध हैं, किन्तु 16वीं शती उत्तरार्द्ध के ग्रंथों एवं भित्ति-चित्रों के आधार पर आमेर शैली का निर्धारण सहज ही किया जा सकता है। सन् 1540 का पालम का सचिव आदि पुराण तथा सिटी–पैलेस म्यूजियम का " रज्मनामा" और महाराजा मानसिंह के ही शासन-काल का (1590) तिथियुक्त सचित्र ग्रंथ " यशोधर-चरित्र" इस दृष्टि से कछवाह कला के प्रारम्भिक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य हैं। उपर्युक्त ग्रंथ तिथियुक्त हैं एवं किसी न किसी रूप में जयपुर क्षेत्र एवं यहाँ के सांस्कृतिक परिवेश से संबद्ध हैं।

पालम (योगिनीपुर) में पुष्पदत्त का सन् 1540 का " आदि पुराण" राजस्थानी चित्रकला के उद्भव और विकास की श्रृंखलाओं को ही नहीं जोड़ता, वरन् आमेर शैली के प्रारम्भिक स्वरूप को भी उजागर करता है। 344 पृष्ठ का लगभग साढ़े पाँच सौ चित्रों से सुसज्जित यह ग्रंथ राजस्थानी चित्रकला के लिए दीप-स्तम्भ के समान है।[3] जैन कला से राजस्थानी चित्रकला पर लोक-संस्कृति एवं तकनीक का जो प्रभाव धीरे-धीरे संतरित हुआ है, उसे इस ग्रंथ में चीह्वा जा सकता है। इसी क्रम में जयपुर के प्रसिद्ध ईसरदा ठिकाणे का "सचित्र भागवत" (1550-80) आमेर कला के नये आयाग प्रस्तुत करता है।[4] मुगल प्रभाव से परे ठेठ प्रारम्भिक राजस्थानी कला की विशिष्टताएँ लिए यह ग्रंथ आमेर शैली की प्रमुख कड़ी जोड़ता है।

जयपुर के पोथीखाने में सुरक्षित " रज्जबनामा" अकबर के लिए तैयार किया गया जिसमें आमेर के अड़तालीस चित्रकारों का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने इसके सुलेखन और 169 चित्रों को तैयार करने में सहयोग दिया।[5] नादिरशाही लूट के एक वर्ष पूर्व ही मुहम्मदशाह ने इस ग्रंथ को सवाई जयसिंह को भेंट किया। मुगल और आमेर शैली का मिलाजुला प्रभाव इस ग्रंथ की विशेषता है। अकबर के दरबारी प्रमुख सामंत होने के कारण राजा मानसिंह कला-प्रेमी और कला-संरक्षक थे। उनके शासनकाल में "यशोधर चरित"[6] की पाण्डुलिपि सन् 1590 में आमेर के नेमिनाथ जिन चैत्यालय में चित्रित की गयी, जो 47 उत्कृष्ट चित्रों से सुसज्जित है। इसी प्रकार महाराजा मानसिंह की जन्मस्थली, मोजमाबाद में सन् 1606 में चित्रित "आदिपुराण", आमेर एवं अपभ्रंश शैली का एक महत्त्वपूर्ण सचित्र ग्रंथ है, जिसके आधार पर आमेर शैली के उद्भव और विकास की समृद्ध परम्परा का सहज ही ज्ञान होता है।

सचित्र ग्रंथों के अतिरिक्त आमेर शैली की समृद्ध परम्परा भित्ति-चित्रों के रूप में उपलब्ध है। अजन्ता और एलौरा की इस परम्परा का वहन करने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

वाली राजस्थानी चित्रकला के सही हालत में भित्ति-चित्रण के साक्ष्य आमेर शैली में उपलब्ध हैं, जिनमें मानसिंह की छतरी; मुगल गार्डन, बैराठ राजप्रासद, आमेर, भाऊपुंरा की छतरी, मौज़माबाद (श्वेत श्याम चित्र-13.2) के महल आदि पुरासाक्ष्य के आधार हैं ।

सन् 1600-1614 के आसपास के आमेर की छतरियों के भित्ति-चित्रण इस शैली के प्राचीन उपलब्ध उदाहरण हैं,[7] इनमें मानसिंह की छतरी में उपलब्ध भित्तिचित्र चित्रकला के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं । छतरी के अन्दर इन चालीस चित्रों का पैनल आमेर शैली का प्रारम्भिक इतिहास प्रदर्शित करता है । ये चित्र जयपुर की प्रचलित आराइश शैली में न बनकर सीधे ही पत्थर पर बनाये गये हैं । प्रत्येक चित्र एक आर्च से बंधित है । विषयवस्तु की दृष्टि से इन चित्रों में शिकार, अवतार, कुश्ती, योग, लैला-मजनूँ, रागरागिनी, हाथी, ऊँट, बैल की सवारी तथा पशुओं की लड़ाई प्रमुख हैं । गेरू, रामरज, सफेदा, कालूस आदि मौलिक रंगों का इन चित्रों में प्रयोग हुआ है । रेखांकन लाल या काले रंग में किया गया है और फिर चित्र में रंग भरे गये हैं । इन चित्रों में उत्तर अकबर और पूर्व जहाँगीरकालीन चित्रण का प्रभाव विशेष दृष्टिगोचर होता है । चार नौक (four pointed) का चाकदार जामा, घेरदार जामा तथा जहाँगीरी पगड़ी के प्रभाव के साथ ही लोक-कलात्मक प्रभाव इन चित्रों की विशेषता है । औरतें राजस्थानी वस्त्र अर्थात् घाघरा, ओढ़नी, चोली आदि के साथ ही मुगल शैली के वस्त्राभूषण पहने हुए भी प्रदर्शित की गयी हैं ।[8]

आमेर की छतरियों के अतिरिक्त बैराठ के तथाकथित मुगल गार्डन में भी आमेर शैली के भित्ति-चित्र अंकित हैं, जिनमें रागरागिनी, कृष्ण-लीला, नायिका-भेद, लैला-मजनूँ, कुश्तीबाज, हाथी, घोड़े, ऊँट आदि की सवारी का चित्रण हुआ है । प्रारम्भिक आमेर शैली के अध्ययन की दृष्टि से ये चित्र महत्त्वपूर्ण हैं ।[9]

जयपुर के पास ही मौज़माबाद भी प्रारम्भिक आमेर शैली का गढ़ रहा है । मौजमाबाद की छतरी में भी उपर्युक्त शैलीगत विशेषताएँ भित्ति-चित्रण में उपलब्ध होती हैं जो अब नष्टप्राय हैं ।

आमेर शैली पर मुगल शैली का प्रभाव अधिक है । 16वीं शती के मध्य में राजस्थान के राजा अकबर महान् की अधीनता स्वीकार करने में लगे थे । अकबर ने सन् 1562 में सबसे पहले अजमेर के राजा भारमल की पुत्री से विवाह करके राजस्थान के राजघरानों से अपने सम्बन्धों की भूमिका प्रारम्भ की ।[6] राजा मानसिंह के समय (1589-1614) मुगल साम्राज्य से कछावा वंश के सम्बन्ध बड़े गहन थे, अतएव कलात्मक आदान-प्रदान बहुत स्वाभाविक था । आमेर की छतरियों तथा आमेर के राजप्रासादों की भोजनशाला के स्याह कलम के तीर्थ-स्थलों के चित्र, जगत-शिरोमणी मंदिर के भित्तिचित्र, शाह मखदूम के मकबरे का भित्यांकन, बैराठ के बाग तथा राजा मानसिंह के जन्म-स्थान मौज़माबाद के भित्तिचित्र (श्वेत श्याम चित्र-13.2) इसी कारण मुगल शैली से प्रभावित हैं । प्रसिद्ध सचित्र ग्रंथ "रज्मनामा" (1584-1588) जो अकबर के दरबार में चित्रित हुआ और सिटी पैलेस म्यूजियम, जयपुर में उपलब्ध है; में आमेर शैली के प्रारम्भिक स्वरूप एवं कलात्मक आदान-प्रदान का रूप दृष्टिगोचर होता है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आमेर शैली का दूसरा चरण (रंगीन चित्र-17) मिर्जाराजा जयसिंह (1625-1667) से प्रारम्भ होता है। बिहारी जैसे रीतिकालीन शब्द-चित्रकार मिर्जाराजा के दरबारी रत्न थे, जिनकी "बिहारी सतसई" ने अनेक चित्रकारों और रसिकजनों को प्रभावित किया। खेद यही है कि तत्कालीन चित्र बहुत कम उपलब्ध होते हैं, जिनमें लोक-कला की विशेषता और मुगल प्रभाव झलकता है।

शैली की विशेषताएँ

आमेर शैली की अपनी निजी विशेषताएँ हैं। भित्ति-चित्रण आमेर शैली की दाय है जिसमें पुरुष और स्त्रियों की शारीरिक बनावट राजस्थानी लोककला से अधिक प्रभावित है। मुगलों से सम्बन्ध होने के कारण सांस्कृतिक आदान-प्रदान स्वाभाविक था, अतः शारीरिक बनावट और वेशभूषा में अकबरकालीन तथा जहाँगीरकालीन वस्त्राभूषणों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। चार नौक का जामा और बाद में घेरदार जामा तथा चुस्त पाजामा, जहाँगीरी पगड़ी, चगताई औरतों (रंगीन चित्र-17) जैसा पहनावा, आमेर शैली में द्रष्टव्य हैं। हाथों में काले-फुँदने, घाघरा, ओढ़नी, चोली आदि ठेठ राजस्थानी लोक-जीवन से सम्बन्धित हैं। रेखाओं में अपभ्रंश-कालीन भदेसपन तथा प्राकृतिक रंग जैसे हिरमच, गेरू, कालूस, सफेदा, पेवड़ी आदि का प्रयोग बहुलता से हुआ है। पशु-पक्षियों और पेड़ों की बनावट भी लोककला के अधिक नजदीक है। कुल मिलाकर आमेर शैली का अपना रूप-विधान है जो इन भित्ति-चित्रों और कुछेक सचित्र ग्रंथों में दर्शनीय है।

जयपुर–शैली

जयपुर को आमेर शैली विरासत के रूप में मिली। या यों कहना चाहिये कि आमेर शैली ही जयपुर शहर बसने के कारण नये रंगरूप में विकसित हुई तथा तभी से जयपुर शैली के नाम से जानी जाने लगी। महाराजा सवाई जयसिंह ने जयपुर शहर का निर्माण (सन् 1727) कराना प्रारम्भ किया और आमेर से हटाकर जयपुर को बड़े वैज्ञानिक और नियमबद्ध तरीके से बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया।[7] वे महान् गणितज्ञ, ज्योतिषि, नक्षत्रशास्त्री तथा कला-प्रेमी राजा थे, अतः उन्होंने वेधशाला, चन्द्रमहल, जयनिवास बाग, तालकटोरा, सिसोदिया रानी का महल जैसी भव्य इमारतें बनाकर जयपुर को एक नवीन आयाम दिया।

अपने आकर्षक शिल्प-सौष्ठव, मोहक रंगविधान और सुव्यवस्थित बसावट के कारण जयपुर भारत का प्रसिद्ध गुलाबी नगर रहा है। श्रेष्ठ परम्परावादी लघुचित्रों, कलात्मक उद्योग, उल्लासपूर्ण त्यौहार तथा रंग-बिरंगी वेशभूषा के कारण यह शहर प्रारम्भ से ही संस्कृति का प्रमुख केन्द्र रहा है। कलात्मक धरोहर इसे विरासत में मिली, अतः जयपुर की चित्रकला का प्रारूप भी अन्य कलाओं के केन्द्र में रहा।

जयपुर के नवनिर्माण के कारण देशभर के वास्तुकार, कलाकार व अन्य गुणीजनों का जमघट राजधानी में होने लगा। पारस्परिक कछावा या आमेर शैली के लोक-कलात्मक परिवेश से सुसंस्कृत कोमल चित्रांकन को विशेष महत्त्व दिया। मुगल दरबार के पुराने सम्बन्धों के कारण मुगल शैली की नफ़ासत इस समय और उभरकर सामने आयी। मुहम्मदशाह सवाई जयसिंह महाराज का दरबारी

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्रकार था। उसने कुछ ग्रंथों को बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित किया। मुगल शैली के अत्यधिक प्रभाव के कारण इस काल के प्राप्त चित्रों के बारे में भ्रम होने लगता है, पर फिर भी गुलाबी नगर, जयपुर के निर्माता सवाई जयसिंह का काल (1699-1743) अन्य कलाओं के साथ-साथ चित्रकला की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण रहा है।[8]

सवाई जयसिंह के पुत्र ईश्वरीसिंह (1743-1750) तांत्रिक थे। अपने समय में वे मराठाओं से जूझते रहे और अंत में तंग आकर उन्हें जहर खाना पड़ा, पर अपने अल्प समय में उन्होंने मराठा विजय के फलस्वरूप "ईसरलाट" का निर्माण कराया। उनके समय में साहिबराम नामक चितारा एक प्रतिभाशाली कलाकार के रूप में उभरकर आया। उसने ईश्वरीसिंहजी का एक आदमकद चित्र चंदरस से बनाया जो उच्चकोटि की कलाकृति है। इनके समय का दूसरा चित्रकार लाल चितारा था, जिसने पशु-पक्षियों की लड़ाई के अनेक चित्र बनाये। ये चित्र अत्यधिक सजीव और भावात्मक हैं।

सवाई माधोसिंह प्रथम के समय (1750-1767) मराठा और जाटों से अनबन के कारण अस्थिरता अधिक रही, फिर भी गलता के मन्दिरों, शिशोदिया रानी के महल तथा चन्द्रमहल को भित्ति-चित्रों से सुसज्जित करवाया। भित्तिचित्रों की परम्परा जयपुर की हवेलियों तक में प्रवेश पा गयी। पुण्डरीक की हवेली के भित्तिचित्र इस दृष्टि से विशेष महत्त्व के हैं।

साहिबराम इस समय मंजे हुये कलाकारों में गिना जाने लगा। वह बड़े आकार की पोट्रेट बनाता था। इस काल के दो और कलाकार रामजीदास (रंगीन चित्र-18) और गोविन्द भी बड़े आकार की तस्वीरें बनाते थे। लाल चितारा, राजकीय खेलों के अंकन में मगन रहा। इस समय की चित्रकारी में मुगल प्रभाव धीरे-धीरे विलीन होने लगा और शुद्ध राजपूत-शैली की प्रधानता झलकने लगी। अलंकारों के चित्रण के स्थान पर मोती, लाल और लकड़ी की मणियों को चिपका कर रीतिकालीन आलंकारिक मणिकुट्टिम की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया जाने लगा।[9]

महाराजा पृथ्वीसिंह का समय (सन् 1767-1779) अल्प रहा। राज्य के आश्रित कलाकार इनके समय में भी चित्रांकन करते रहे। दरबारी चित्रकार, हीरानन्द और त्रिलोक का कार्य विशेष उल्लेखनीय है। इन्होंने सन् 1778 में महाराजा का आदमकद पोट्रेट बनाया।

महाराजा पृथ्वीसिंह के आकस्मिक निधन के कारण उनके छोटे भाई सवाई प्रतापसिंह (1779-1803) ने राज्य का कार्यभाल संभाला। सवाई प्रतापसिंह कलाप्रेमी और साहित्यिक अभिरुचि के राजा थे, अतः उन्होंने जयपुर के कलात्मक जीवन में नवीन पृष्ठ जोड़े। धर्म और काव्य के प्रति उनकी विशेष रुचि थी। वे स्वयं "ब्रजनिधि" के नाम से काव्य-रचना करते थे और पुष्टिमार्गी उपासक होने के कारण कृष्ण-भक्ति में विशेष अनुराग रखते थे। उनके रचित इक्कीस ग्रंथ उपलब्ध हैं। जगत प्रसिद्ध हवामहल का निर्माण इन्हीं के समय में हुआ। कलात्मक रीति के कपाटों से सुसज्जित प्रीतम निवास, दीवाने-आम, चन्द्रमहल की ऊपरी मंजिलें आदि इन्हीं की प्रेरणा से निर्मित हुईं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

कवि, चित्रकार और भक्त होने के कारण अनेक कवि और चित्रकार उनके दरबार की शोभा बढ़ाते थे। वरिष्ठ चित्रकार साहिबराम अभी भी चित्रांकन में संलग्न था। उसके बनाये तीन प्रसिद्ध चित्र अद्वितीय कलाकृति हैं जिनमें से दो महाराजा के पोट्रेट तथा एक राधा-कृष्ण के नृत्य से सम्बंधित है। इनके समय में राधाकृष्ण (श्वेत श्याम चित्र-13.1) की लीलाओं, नायिकाभेद, रागरागिनी, ऋतु-वर्णन आदि से सम्बन्धित चित्रांकन विशेष रूप से हुआ जिनमें राजा और रानियों के विशाल आदमकद चित्र तथा भागवत-पुराण, दुर्गा-सप्तशती, कृष्ण-लीला आदि के अनेक चित्र उल्लेखनीय हैं।[10] साहिबराम के अतिरिक्त अन्य कलाकारों में जीवन, घासी, सालिगराम, रघुनाथ, रामसेवक, गोपाल, उदय, हुक्मा, चिमना, दयाराम, राजू, निरंजन आदि का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने जयपुर शैली में भित्तिचित्रण तथा लघुचित्रण दोनों ही विधियों में कार्य किया।

उपर्युक्त कला की मौलिक दाय सवाई जगतसिंह (1803-1818) तक चलती रही। उनके दरबार में पद्माकर जैसे प्रसिद्ध रीतिकालीन कवि थे, जिन्होंने "जगद्-विनोद" की रचना कर जयपुर घराने को बिहारी सतसई से जोड़ दिया।[11]

सवाई जगतसिंह के उपरान्त जयपुर शैली की मौलिकता अंग्रेजी सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव के कारण अधिक दिन नहीं टिक सकी और उसमें कंपनी शैली का प्रभाव प्रविष्ट होने लगा।[12] महाराजा रामसिंह के समय में चित्रकार यथार्थवादी शैली में चित्र बनाने लगे। फोटोग्राफी के ढंग से पोट्रेट चित्रित किये जाने लगे। अंग्रेजी प्रभाव एवं कलाकारों की इस प्रवृत्ति को देखकर महाराजा ने "महाराजा स्कूल ऑफ आर्ट्स एण्ड क्राफ्ट्स" की स्थापना कर यहाँ की चित्रकला को नया मोड़ दिया। उनके आदेशानुसार नगर को गुलाबी आवरण दिया गया जिससे यह गुलाबी नगरी नये परिवेश में उभरकर सामने आयी। पारंपरिक जयपुर शैली का वैविध्यपूर्ण चमत्कार प्रायः विलीन होने लगा।

जयपुर शैली का सम्बन्ध जयपुर के राजघराने से ही नहीं रहा, वरन् जयपुर से सम्बन्धित ताज़ीमी बड़े ठिकानों में भी दूर-दूर तक चित्रकला पनपी और विकसित हुई। ईसरदा, सिवाड़, झिलाय, उणियारा, चौमूँ, मालपुरा, सामोद आदि स्थानों में समय-समय पर चित्रण हुआ। कुछ ठिकानों की कला तो अपनी विशेषताओं के साथ उभरकर सामने आई। उणियारा (रंगीन चित्र-19) में अलग ही उपशैली विकसित हुई जिसमें जयपुर और बूँदी शैली का सम्मिश्रण विशेष दर्शनीय है। उणियारा के महल का भित्तिचित्रण (श्वेत श्याम चित्र-12) तथा उणियारा दरबार के निजी संग्रह और कुँवर संग्रामसिंह के संग्रह में उपलब्ध लघुचित्र इस बात के साक्षी हैं। सामोद के महलों का चित्रण भी जयपुर शैली की भित्तिचित्रण परम्परा में ही है।

वैसे तो जयपुर के महलों, मंदिरों ओर हवेलियों के भित्ति-चित्रण की परम्परा ने दूर-दूर तक अपना प्रभाव स्थापित किया, जो ढूँढाड़ स्कूल के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान माना जा सकता है। शेखावाटी में हवेलियों, छतरियों और मन्दिरों में जो कला 19वीं शती में विकसित हुई, उसके पीछे जयपुर के भित्तिचित्रण की परम्परा का योगदान सराहनीय है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

जयपुर-शैली की विशेषताएँ

प्रारम्भिक जयपुर शैली आमेर की पारम्परिक कला के अनुकूल होने के साथ ही मुगल दरबार के पारस्परिक आदान-प्रदान के कारण शैली के प्रभाव-क्षेत्र में अधिक रही है, पर धीरे-धीरे राजपूत संस्कृति की मौलिकता को ग्रहण किया, जिसके फलस्वरूप जयपुर शैली के चित्रों में लोक-कलात्मक तथा राजपूती वैभव की प्रधानता दृष्टिगोचर हुई ।

गलता, (रंगीन चित्र-20) पुण्डरीक की हवेली, चन्द्रमहल, शिशोदिया रानी का महल तथा नगर सेठों की हवेलियों और मंदिरों में भित्ति-चित्रण की विशिष्ट परम्परा के साथ ही सैकड़ों सचित्र ग्रंथ, हजारों लघु-चित्र तथा आदमकद और बड़े पोर्ट्रेट जयपुर-शैली की अनोखी दाय हैं, जो सिटी पैलेस म्यूजियम, राजकीय संग्रहालयों तथा निजी संग्रहालयों में उपलब्ध हैं । कुं. संग्रामसिंह के अनुसार जयपुर शैली की निम्नांकित विशेषताएँ उल्लेखनीय हैं :

जयपुर शैली में कलाकारों ने बड़े-बड़े केनवासों पर आदमकद चित्र बनाकर चित्रकला में नई परम्परा डाली । प्रारम्भिक चित्र अवश्य पारम्परिक शैली में बनते रहे । सैकड़ों व्यक्तिचित्र और समूह-चित्र जयपुर-शैली की अपनी विशेष दाय हैं, जिनमें राजा, सामन्त, जागीरदार, कलाकार आदि के व्यक्तिचित्र तथा शाही सवारी, महफिलें, उत्सव, रागरंग, शिकार आदि का समूह-चित्रण बहुलता से हुआ है । लघुचित्रों एवं पोथी चित्रों की परम्परा में गीत गोविन्द, रामायण, कृष्ण लीला, दुर्गा सप्तशती, महाभारत, रागरागिनी, बारहमासा, नायिका भेद, काम-कला आदि का चित्रण बहुलता से हुआ है ।

भित्ति-चित्रण की परम्परा-शैली की निजी दाय है । आमेर शैली की परम्परा में जयपुर शहर के निर्माण के बाद महलों, मन्दिरों, छतरियों और हवेलियों में आराइश का कार्य प्रचलन में आ गया और भित्तिचित्रण स्थापत्य का अंग हो गया । यह परम्परा 19वीं शती में इतनी प्रसारित हुई कि शेखावाटी के सेठों ने अपने-अपने नगरों में नयी अर्थव्यवस्था के फलस्वरूप बड़ी-बड़ी हवेलियाँ बनाकर उन्हें चित्रण द्वारा सुसज्जित किया ।

जयपुर शैली के कलाकारों ने चित्रों के हाशिये बनाने में गहरे लाल रंग का प्रयोग किया । सफेद, लाल, नीला, पीला तथा हरा रंग जयपुर शैली में बहुलता से प्रयुक्त हुआ है । चाँदी और सोने का प्रयोग भी उन्होंने चित्रों में किया ।

इस शैली के चित्रों में पुरुष तथा महिलाओं के कद अनुपातिक हैं । पुरुष पात्रों के चेहरे साफ तथा आँखें खंजनाकार हैं । उन्हें अधिकतर तलवार लिए अंकित किया गया है । जहाँ तक वस्त्राभूषणों का प्रश्न है, पुरुषों को विवाह के समय तुर्रा-कलंगी लगा सेहरा, कानों में लौंग, बाली या गुर्दा पहने दिखाया गया है । सुसम्पन्न व्यक्ति पगड़ी, कुर्त्ता, जामा, चौगा, अंगरखी, पायजामा, कमरबन्द, पटका, जूता आदि पहने हुए अंकित हुआ है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नारी पात्रों का अंकन (रंगीन चित्र-18) स्वस्थ, आँखें बड़ी, लम्बी केशराशि, भरा हुआ शरीर तथा सुहावनी मुद्रा में हुआ है । अन्य राजस्थानी शैलियों की भाँति इस शैली में भी नारियाँ टीका, टोंटी, बाली, हार, हंसली, सतलड़ी, टेवटा, कंठा, बाजूबन्द, चूड़ी, पायजेब आदि से विभूषित हैं । वस्त्रांकन में चोली, कुर्त्ता, दुपट्टा, लहँगा, बेसर, तिलक और कामदार जूतियों (रंगीन चित्र-18) का प्रचलन अधिक रहा है ।

कलाकारों ने पृष्ठभूमि के लिए उद्यानों का अंकन बड़ी दक्षता से किया है । शेर, चीता, हाथी, भेड़, बकरी, ऊँट, घोड़ा, गाय, बैल, मोर, बतख़, तोता आदि का विषयानुकूल अंकन हुआ है ।

सन् 1850 के बाद विदेशी प्रभाव के कारण फोटोग्राफी का प्रभाव तथा विदेशी स्थापत्य और वेशभूषा का अंकन जयपुर शैली में समाविष्ट हो गया और धीरे-धीरे शैली की निजी विशेषताएँ लुप्तप्राय होने लगीं ।

शेखावाटी शैली

चित्रकला के अध्ययन की दृष्टि से शेखावाटी क्षेत्र भी अब प्रकाश में आने लगा है । आमेर और बैराठ की भित्तिचित्रण परम्परा तथा जयपुर के महल, मन्दिर और विशेषतः हवेलियों के चित्रण ने शेखावाटी क्षेत्र को भी प्रभावित किया और हवेली संगीत की भाँति हवेली चित्रकला का प्रसार शेखावाटी क्षेत्र (रंगीन चित्र-21) में विस्तार से हो गया ।

15वीं शती में कछावा वंश में बालाजी के पौत्र और मोकलजी के पुत्र शेखाजी एक वीर न्याय परायण व्यक्ति हुए जिन्होंने अपने बाहुबल से एक स्वतंत्र एवं विस्तृत राज्य की स्थापना की, जो आगे चलकर शेखावाटी के नाम से प्रचलित हुआ । यह प्रदेश राजस्थान की मरुभूमि का ही एक अभिन्न अंग है और लक्ष्मी, सरस्वती और कला का संगम-स्थल माना जाता है । रामायणकाल में मरुकान्तार तथा महाभारत काल में मत्स्य की सीमाओं में आने वाला यह वृहद् भूभाग कला की दृष्टि से ढूँढाड़ स्कूल के परिसर में गिना जाना चाहिए ।

प्राचीन समय से ही यह भूभाग दुर्गम एवं जंगलों से घिरा होने के कारण तथा ताँबे की बहुत उपलब्धि के कारण संस्कृति का केन्द्र रहा है । नीमकाथाना से 10 किलोमीटर दूर गणेश्वर में पुरातत्त्व की खुदाई में ताम्रयुगीन संस्कृति के आज से 5 हजार वर्ष पुराने सैकड़ों तीर के फलक, भाले की नोंक, आभूषण, मछली पकड़ने के काँटे और कुल्हाड़े आदि मिले हैं, जिन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि हड़प्पा, मोहनजोदड़ो तथा सिन्धु सभ्यता में काम आने वाला ताँबा यहीं से जाता था । इतनी पुरानी और इतनी अधिक मात्रा में ताँबे की निर्मित प्रागैतिहासिक वस्तुएँ संसार में कहीं भी उपलब्ध नहीं हुई हैं ।[13] गणेश्वर संस्कृति पुरातत्त्व में निश्चय ही नये आयाम खोलेगी । महाभारतकालीन अवशेष तथा बौद्धकालीन अवशेष शेखावाटी क्षेत्र में यथास्थान मिलते हैं । गुर्जर प्रतिहारों की कला का प्रसार इस क्षेत्र में चारों ओर फैला पड़ा है । जोधपुरा, सुनारी, हर्षनाथ, शाकम्भरी आदि स्थल संस्कृति और कला के केन्द्र रहे हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पर. शेखावाटी क्षेत्र में चित्रकला का प्रादुर्भाव हवेलियों के निर्माण से ही माना जाना चाहिए। अंग्रेजी राज्य की स्थापना के बाद यहाँ के सेठों ने अपना व्यापारिक क्षेत्र बढ़ाया। वे अंग्रेजों के व्यापार के सहभागी बने और अपने साहस और उत्साह के कारण लोटा और डोर लेकर घर से कलकत्ता-बम्बई की ओर निकल पड़े।

शेखावाटी 19वीं शती के पूर्वार्द्ध से ही व्यापारिक केन्द्रों में शामिल हो गया तथा वणिकों के बाहर जाकर व्यापार करने के कारण यह प्रदेश लक्ष्मी का निवास-स्थल हो गया। इस तरह पिलानी के बिड़ला, नवलगढ़ के पोद्दार, मुकुन्दगढ़ के कानोड़िया, बगड़ के बाँगड़, फतहपुर के गोइनका रामगढ़ के रूइया तथा डालमियाँ, बजाज, जयपुरिया आदि बड़े औद्योगिक घरानों ने भारतीय अर्थनीति में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया। उन्होंने अपने-अपने नगरों में बड़ी-बड़ी हवेलियाँ तथा मंदिर और छतरियाँ बनवाईं तथा उन्हें चितारों से चित्रित करवाया। हवेलियों की रंगशालायें तथा आन्तरिक और बाह्य परिवेश चित्रकला से सुसज्जित हैं।

चूँकि हवेली चित्रकला 19वीं शती की देन है, अतः इसमें लोककला के साथ-साथ कंपनी शैली का पूर्ण प्रभाव है। अंग्रेजी के आगमन से यातायात के साधनों तथा रहन-सहन, वेशभूषा तथा नवीन आविष्कारों के कारण सेठ लोग प्रभावित हुए और उन्होंने कम्पनी सभ्यता के प्रभाव को अपनी हवेलियों में अंकित करवाया। 19वीं शती के प्रभाव, चमत्कार तथा जनजीवन के उत्साह और कार्य-कलापों का शेखावाटी शैली में अच्छा अध्ययन हो सकता है।

सेठों की ये हवेलियाँ वृहदाकार में भारतीय वास्तुशास्त्र के आधार पर बनी हुई हैं, नवलगढ़, लक्ष्मणगढ़, मुकुन्दगढ़, चूरू, सरदारशहर, रामगढ़ फतहपुर (रंगीन चित्र-21) आदि कस्बों की हवेलियों का वास्तुशास्त्र की दृष्टि से और कला की दृष्टि से अध्ययन होने की गुंजाइश है। ये हवेलियाँ लकड़ी के बड़े-बड़े कलात्मक कपाटों से सुसज्जित हैं तथा गवाक्ष, दरवाजे तथा सामने की दीवारें राजपूत शैली और कम्पनी शैली से प्रभावित चित्रों से मंडित हैं। हवेली के अन्दर भी यथास्थान चित्रण हुआ है। कुछ हवेलियों में तो चित्रशालायें (रंगीन चित्र-21) बनी हुई हैं जिनमें शीशों की जड़ाई सोने की हिल का बहुलता से प्रयोग हुआ है।[14] प्रमुख द्वार को अत्यधिक खूबसूरती से सजाया गया है। उपर्युक्त कस्बों के मंदिरों में भी राम और कृष्ण की लीलाओं का बहुलता से चित्रण मिलता है। रींगस, रामगढ़, बिसाऊ, चूड़ी-अजीतगढ़ आदि स्थानों की छतरियों में विस्तार से चित्रांकन हुआ है जो आमेर की परम्परा का विकसित स्वरूप है।

शेखावाटी का ऐसा कोई कस्बा नहीं है जहाँ बड़ी हवेली, छतरी एवं मन्दिर न हो तथा वहाँ चित्रण न किया गया हो। चित्रकला के प्रभाव की दृष्टि से शेखावाटी क्षेत्र को तीन भागों में बाँटा जा सकता है :-

1. जयपुर के पास का क्षेत्र-चौमूँ, सामोद, रींगस, श्रीमाधोपुर, अजीतगढ़ आदि क्षेत्रों का भित्ति-चित्रण जयपुर-शैली से अधिक प्रभावित है। उसके विषय एवं रँग-रेखायें जयपुर-शैली के अनुकूल अधिक हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

2. पाटण, गणेश्वर, छापीली, खेतड़ी तथा झुंझुनूँ के अनेक कस्बों की चित्रकला हरियाणा की लोककला से अधिक प्रभावित है ।
3. नागौर और बीकानेर की तरफ के अर्थात् सीकर से पश्चिमांचल के कस्बों में मारवाड़ स्कूल का प्रभाव अधिक है ।

शैलीगत विषय

विषयवस्तु की दृष्टि से शेखावाटी शैली में विविधता मिलती है । असल में शेखावाटी की हवेलियों का निर्माणकाल संक्रमणकाल की देन है । देशी रियासतों का प्रभुत्व क्षीण होता जा रहा था तथा अंग्रेजों का कम्पनी राज्य अपना विस्तार पा रहा था । शेखावाटी के सेठों का औद्योगिक महानगरों में संतरण तथा वहाँ की संस्कृति के आदान-प्रदान ने शेखावाटी शैली को नयी रंगत में ढाल दिया । विषयवस्तु की दृष्टि से यह शैली जहाँ अपनी परम्परा को कायम रखे हुए थी; वहीं कम्पनी शैली के प्रभाव को भी अपनाये बिना न रह सकी । विषयवस्तु की दृष्टि से शेखावाटी के भित्ति-चित्रों को निम्नलिखित रूपों में विभाजित कर सकते हैं :-

1. धार्मिक चित्र,
2. सामंती एवं शृंगारिक चित्र,
3. लोक-जीवन-विषयक चित्र; तथा
4. औद्योगीकरण एवं कम्पनी शैली से प्रभावित चित्र ।

शेखावाटी शैली के विषयों में पारंपरिक राजस्थानी चित्रकला के विषयों को आधार बनाकर बहुलता से चित्र बने हैं, इसलिए धार्मिक,(रंगीन चित्र-21) सामंती एवं शृंगारी चित्रों में वह परम्परा विशेष द्रष्टव्य है । राम और कृष्ण की लीलाओं का विस्तार से इन भित्ति-चित्रों में अंकन हुआ है ।

सामंती वैभव शेखावाटी के ठिकाणेदारों के किलों एवं महलों के भित्ति-चित्रों में तो विशिष्ट रूप से अंकित हुआ ही है, पर सेठों की हवेलियों में भी तीज-त्यौहार, होली-दीपावली के जुलूसों का अंकन, शिकार, महफिल, नायक-नायिका-भेद एवं अन्य शृंगारी भावों का अंकन भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है ।

शेखावाटी की हवेलियाँ कस्बों एवं गाँवों में अधिक हैं, इसलिए लोक-जीवन के प्रभाव से वे अछूती नहीं हैं । भित्ति-चित्रण में लोककथाओं का वैशिष्ट्य देखते ही बनता है । ढोला-मारू, निहालदे-सुल्तान, पृथ्वीराज-संयोगिता, खातण-गौरी आदि के अंकन के साथ लोकजीवन की अनेक भाव-भंगिमाओं को भी कलाकारों ने अपने चित्रण का विषय बनाया हैं ।

शेखावाटी शैली में सर्वाधिक विषय 19वीं शती के बदलते परिवेश को अभिव्यक्त करने के लिए बनाये गये हैं । इस दृष्टि से 19वीं शती के बदलाव, रहन-सहन, नये-नये आविष्कार और उनका प्रभाव आदि का अध्ययन इन चित्रों के माध्यम से सहज ही किया जा सकता है । रेल, मोटर, हवाईजंहाज, कपड़े सींने की मशीन, साइकिल, बग्गी, बैण्ड बाजा, कुर्सी, सोफासेट तथा अन्य

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

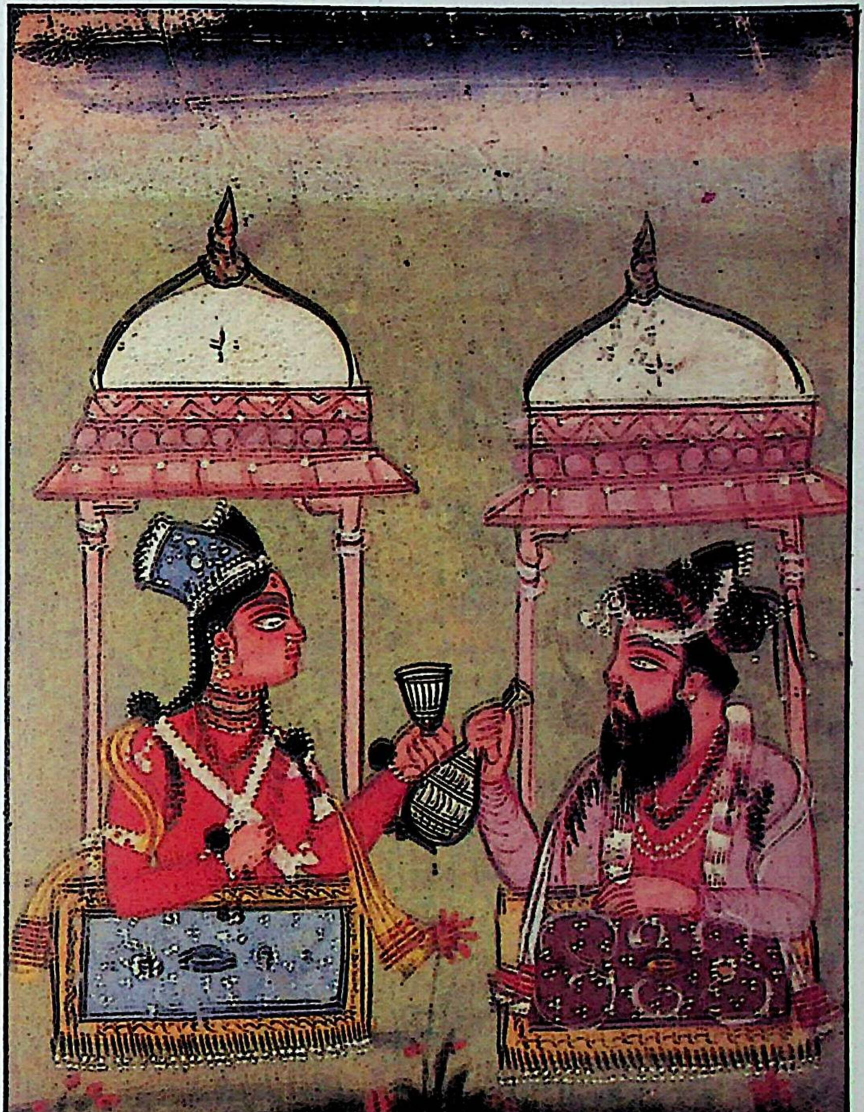

चित्र 17 : बादशाह-बेगम : आमेर शैली, सन् 1650
(कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

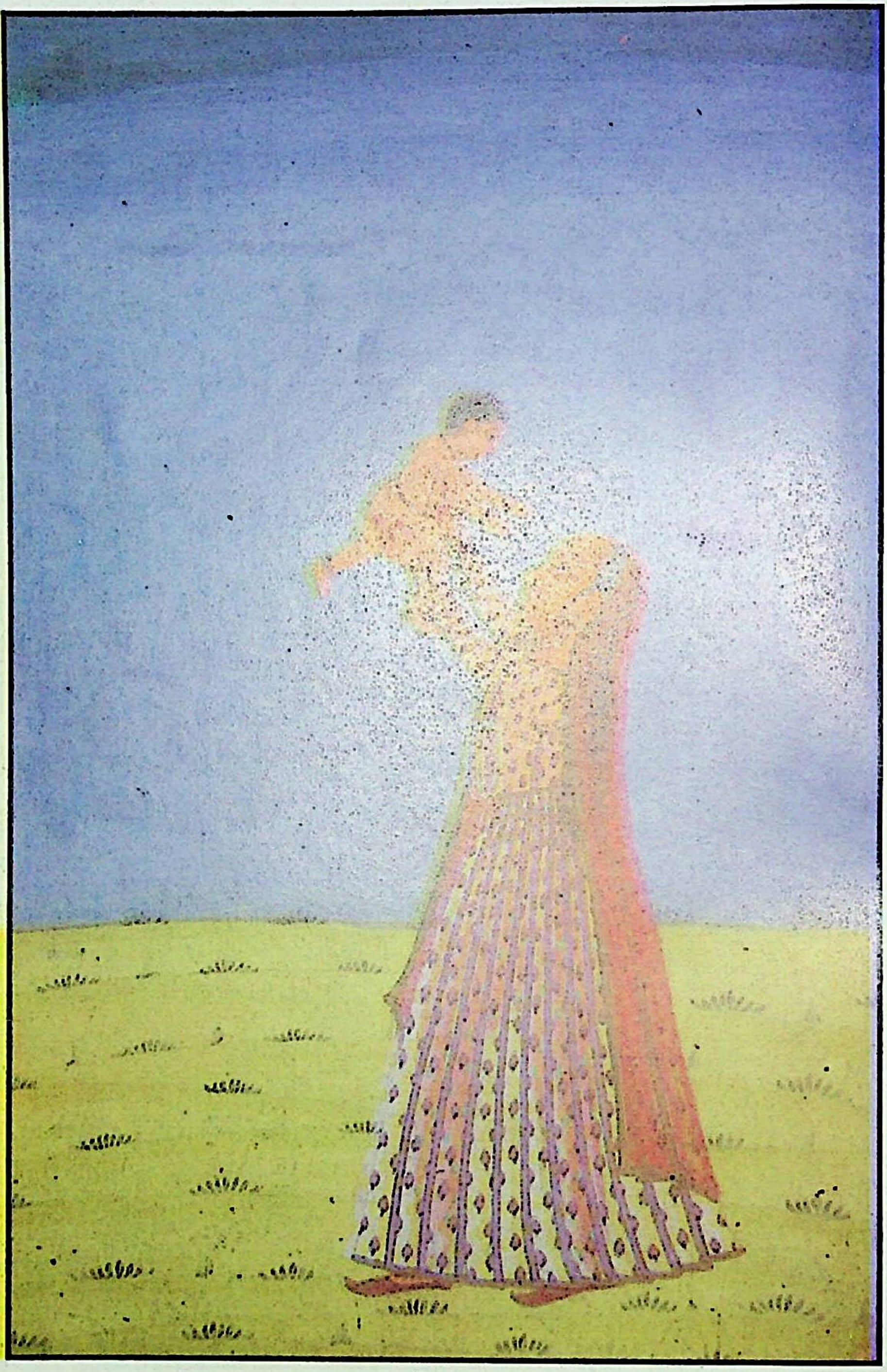

चित्र 18 : वात्सल्य : जयपुर शैली, सन् 1750, चितारा-रामजीदास
(कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्र 19 : राजा विशनसिंह : उणियारा शैली, सन् 1800
(कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

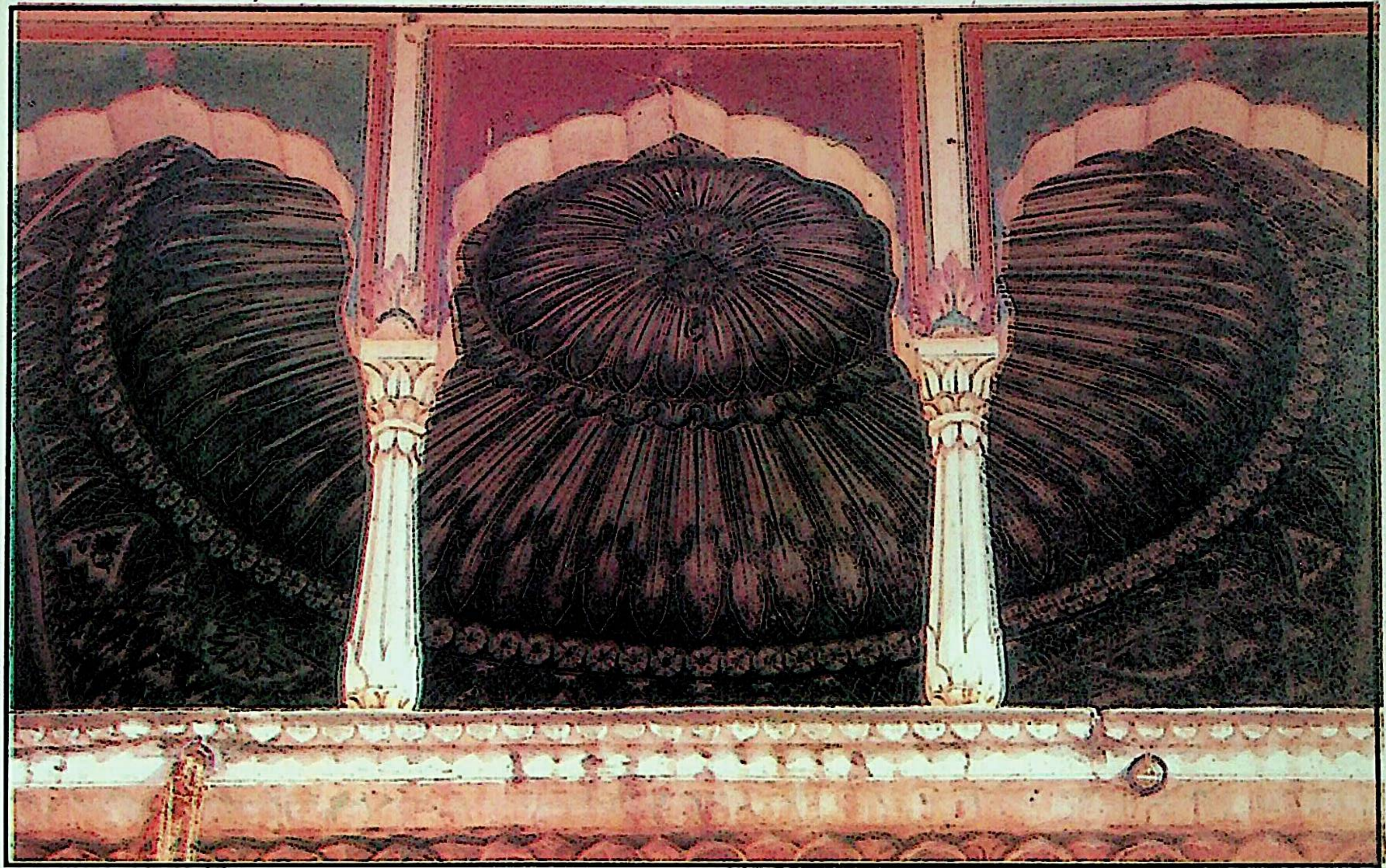

चित्र 20 : भित्ती-चित्रण-परम्परा : जयपुर शैली, 18वीं शती उत्तरार्द्ध
(गलता के प्रमुख द्वार के ऊपरी भाग का भित्ती-चित्र)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

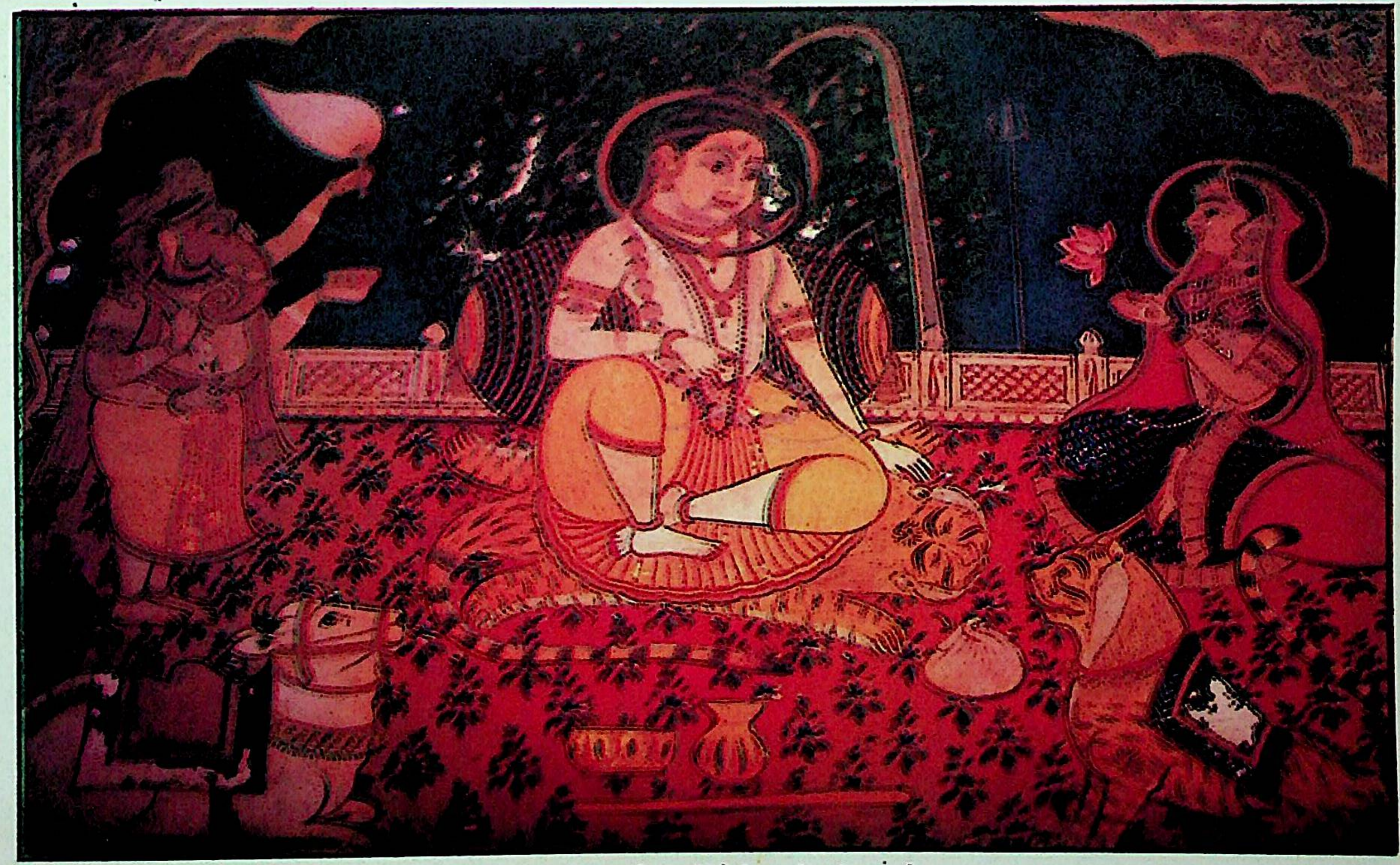

चित्र 21 : शिव परिवार : शेखावटी शैली, 19वीं शती उत्तरार्द्ध
(गोयनका हवेली, फतहपुर का भित्ती-चित्र)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

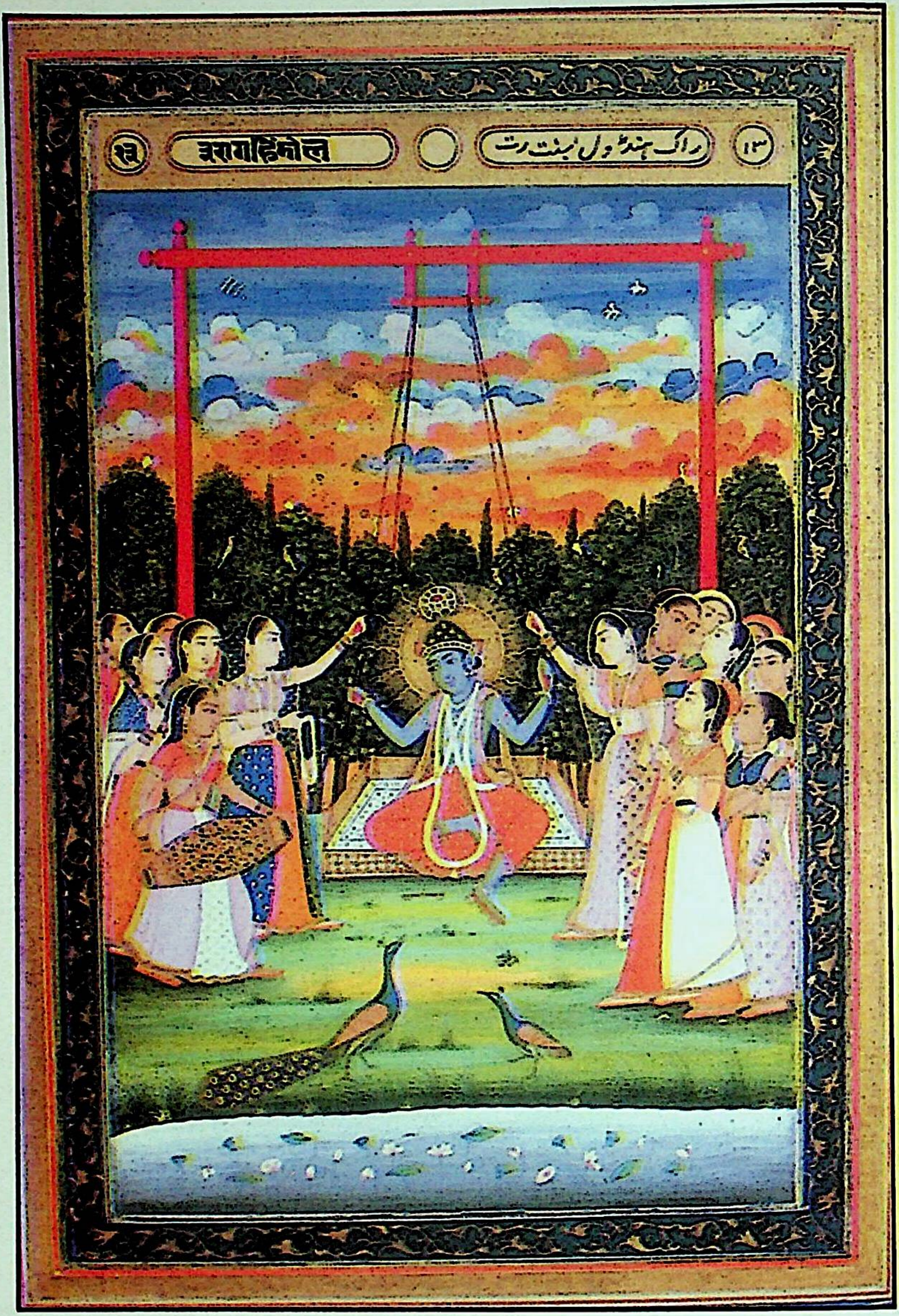

चित्र 22 : राग हिंडोल : अलवर शैली, सन् 1840
(राजकीय संग्रहालय, अलवर)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

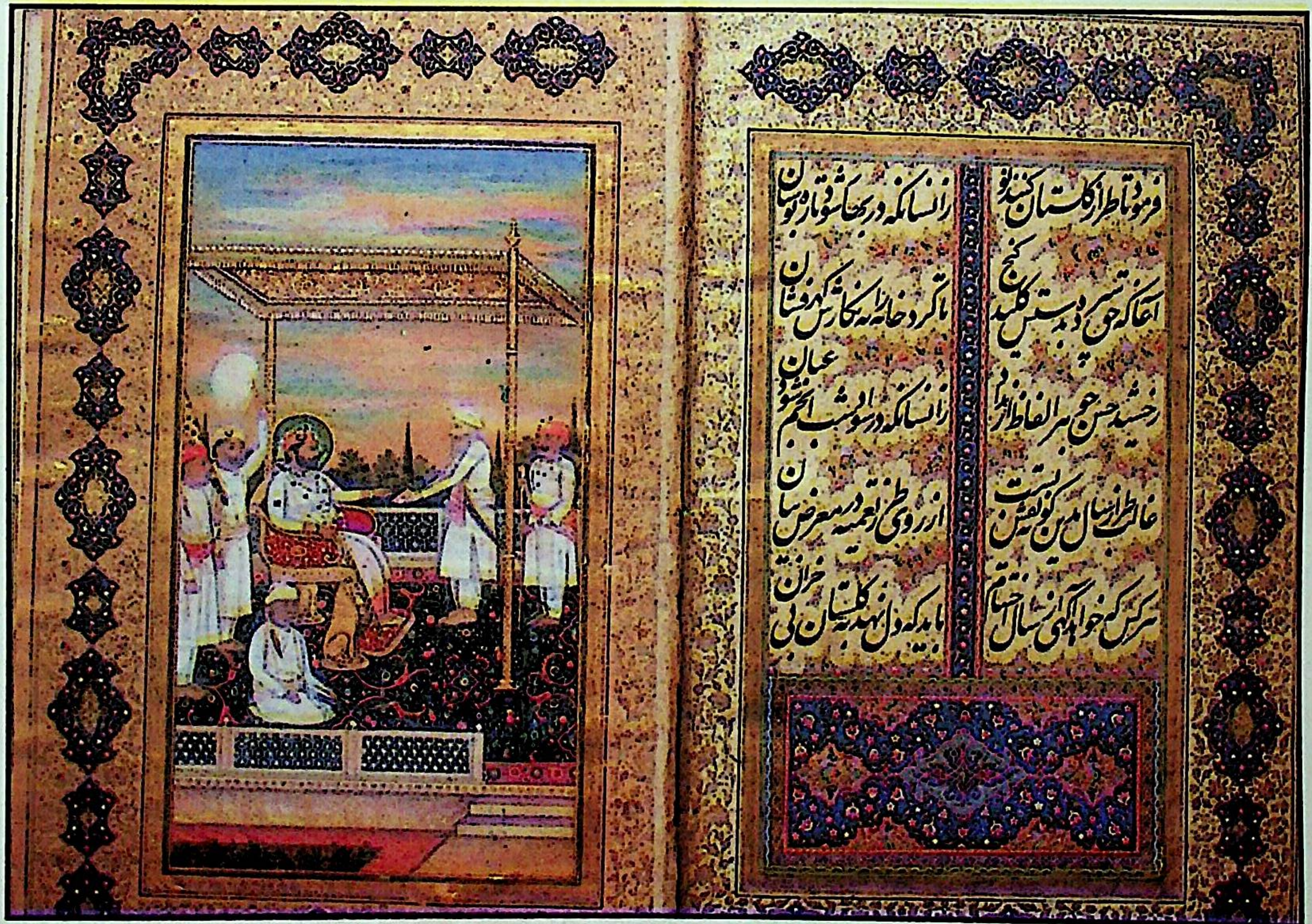

चित्र 23 : रांवराजा विनयसिंह को गुलिस्ताँ भेंट करते हुए : अलवर शैली-लगभग 1850

(प्रसिद्ध सचित्र ग्रन्थ गुलिस्ताँ का एक सचित्र पत्रा) (राजकाय संग्रहालय, अलवर)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

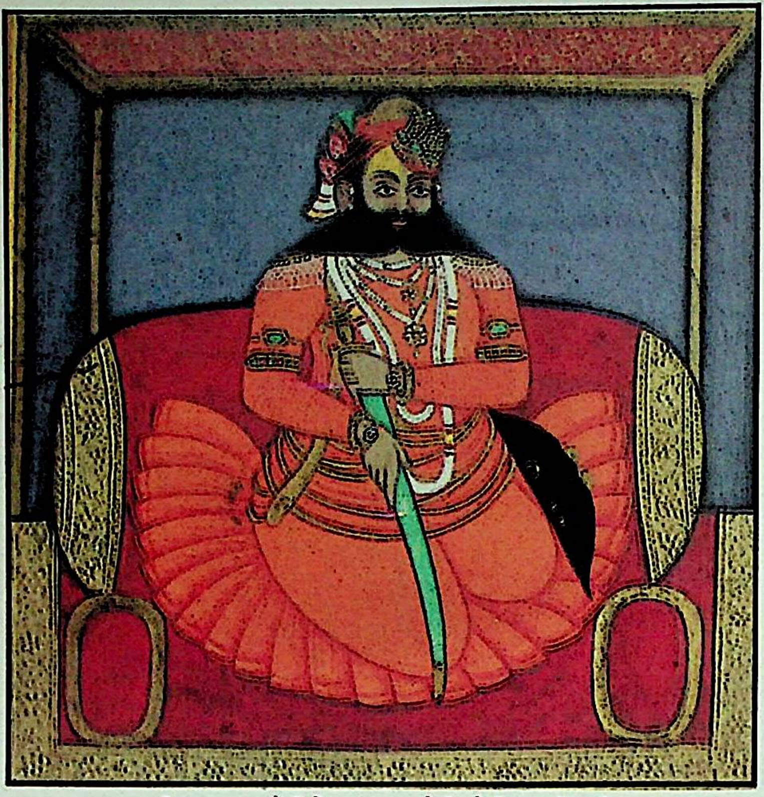

चित्र 24 : करौली के राजा : करौली शैली, 19वीं शती
(कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय; जयपुर)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

विक्टोरियन समय की वस्तुओं का अंकन इन हवेलियों में चमत्कारी ढंग से हुआ है। पटना, मुर्शिदाबाद एवं कलकत्ता की कंपनी शैली का प्रभाव विषयवस्तु एवं अंकन की दृष्टि से विभिन्न हवेलियों में देखते ही बनता है।

20वीं शती की हवेलियों का स्थापत्य भी विक्टोरियन शैली से प्रभावित होने लगा, इसलिए कमरों की साज-सज्जा और चित्रण में विषयवस्तु का बदलाव भी समय के अनुकूल बदल गया।

शैली की विशेषताएँ

राजस्थानी चित्रकला एवं कलाकृतियाँ कम्पनी शैली एवं 19वीं-20वीं शती के औद्योगीकरण का प्रभाव होने के उपरान्त भी शेखावाटी शैली का संविधान अलग ही दृष्टिगोचर होता है। इसकी अपनी अलग विशिष्टताएँ हैं जिनसे इसकी पहचान देशी-विदेशी कला-प्रेमियों एवं पर्यटकों को अपनी ओर आकर्षित कर रही है।

1. बड़े-बड़े हाथी और घोड़ों तथा चोबदारों, चँवर-धारणियों का लोक-कलात्मक अंकन, गवाक्षों के दोनों ओर की दीवारों पर अंकन इन हवेलियों की विशेषता रही है। गवाक्ष एवं प्रमुख द्वार पर देवी-देवताओं का अंकच सुघड़ शैली में हुआ है।
2. छज्जे के नीचे टोड़ों के बीच में कलाकारों ने अपनी सूझबूझ के अनुसार मल्लयुद्ध, कुश्ती, दधिमंथन, गौदोहन, विचित्र पशु-पक्षियों, दैवी मिथकों, राक्षसों, कामकला, रागरागिनी, साधुसंतों, लोककथाओं का विशेष अंकन किया है।
3. हवेलियों की बाह्य दीवारों एवं अन्दर कथात्मक बड़े-बड़े फलकों का चित्रांकन शेखावाटी शैली की विशेष देन है।
4. लोक-जीवन, लोककला और लोक-तकनीक की मोटी रेखाओं (रंगीन चित्र-21) द्वारा इन चित्रों को जयपुर की हवेलियों की भाँति अधिकतर फ्रैस्को तकनीक जिसे बोलचाल की भाषा में आलागीला, आराइश तथा मोराकसी कहते हैं; का प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं पर सीधे ही दीवार की सतह पर रेखांकन कर रंग भर दिये गये हैं जो अधिक स्थायी नहीं हैं।
5. कम्पनी शैली से प्रभावित चित्रों में कलाकारों ने विदेशी विषयवस्तु को अधिकतर देखा नहीं इसलिए उनमें अपनी कल्पना का खूब प्रयोग किया है।

इस प्रकार ढूँढ़ाड़ स्कूल में शेखावाटी की कला का वृहद् विस्तार होने के कारण आज इसकी चर्चा होने लगी है तथा शोधार्थी अध्ययन करने लगे हैं।

अलवर-शैली

अलवर-शैली का अध्ययन न होने के कारण वह अभी तक प्रकाश में नहीं आई है। हाँ, कभी-कभार कला-मर्मज्ञों द्वारा उसका संकेत अवश्य दिया गया है, किन्तु वह नहीं के बराबर है। अलवर की चित्रकला के सम्बन्ध में उपलब्ध

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

भित्तिचित्रों, पोथीग्रंथों, लघुचित्रों, पटचित्रों एवं हाथी दाँत, अभ्रक और लकड़ी के पट्टों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि अलवर की चित्रकला राजस्थानी चित्रकला की अन्य शैलियों से किसी भी प्रकार कम नहीं है।[15] उससे सम्बन्धित सामग्री अनेक संग्रहालयों, महलों, मंदिरों तथा व्यक्तिगत संग्रहों में आज भी शोध का इन्तजार कर रही है।

अन्य शैलियों की भाँति अलवर शैली का जन्म भी अलवर राज्य की स्थापना के बाद से ही माना जाना चाहिए। रावराजा प्रतापसिंहजी (सन् 1756-1790) ने अपनी वीरता, कुशलता एवं राजनीतिज्ञता के कारण जयपुर और भरतपुर के कुछ भाग पर अधिकार कर अलवर राज्य की स्थापना की।[16]

सन् 1770 में राजगढ़ को नये ढंग से बसाकर और सुदृढ़ दुर्ग बनाकर उसे प्रथम राजधानी बनाया तथा सन् 1775 में अलवर के किले पर भी अधिकार कर लिया। प्रतापसिंहजी का अधिकांश समय युद्धों में एवं नवस्थापित राज्य की नींव सुदृढ़ करने में लगा रहा, किन्तु फिर भी अपनी धर्मपरायणता के कारण कला के प्रति उनकी रुचि थी। उनके राज्यकाल में शिवकुमार और डालूराम नामक दो चित्रकार जयपुर से अलवर आये।[17] उन्होंने अपनी कलाकृतियाँ महाराज को भेंट कीं। कहते हैं शिवकुमार तो वापिस लौट गये, किन्तु डालूराम यहीं पर राज्य कलाकार नियुक्त हो गये। उनके बनाये हुए चित्र राजकीय संग्रहालय, अलवर एवं महाराज के निजी संग्रह में मौजूद हैं। डालूराम भित्ति-चित्रण में दक्ष थे। लगता है राजगढ़ के किले के शीशमहल में अंकित शुन्दर कलात्मक भित्ति-चित्र उन्हीं के समय में उनकी देखरेख में बने हैं। यदि ऐसा मान लें तो वे भित्ति-चित्र अलवर शैली के प्रारम्भिक सर्वोत्कृष्ट सुन्दर चित्र हैं।

अलवर से 20 मील दूर राजगढ़ के सुदृढ़ किले के ऊपरी भाग में एक सुन्दर शीशमहल (श्वेत श्याम चित्र-11.2) बना हुआ है जिसमें विभिन्न रंगों के शीशों की जड़ाई के साथ ही आलियों एवं नीचे की दीवारों पर भित्तिचित्रण के सुन्दर उदाहरण विशेष दर्शनीय हैं। यह शीशमहल दो भागों में विभक्त है-एक बड़ा कमरा लगभग 25'×12' का और उत्तर की ओर उससे लगा बरामदा लगभग 25'×10' का है। कमरे की छत विभिन्न रंगों के शीशों (श्वेत श्याम चित्र-11.2) में जड़ी हुई है तथा दीवार पर अनेक सफेद शीशे यत्र-तत्र जड़े हुए हैं। बीच-बीच में अनेक चित्र बने हुए हैं तथा आलियों के नीचे की दीवारें लगभग सारी ही चित्रों एवं बेलबूँटों से आवेष्टित हैं। कमरे और बरामदे की छत टीनशैड की भाँति ढालू है और छत तथा शेष दीवारें चित्रों एवं बेलबूँटों से अंकित हैं।[18]

इस महल के भित्तिचित्रों में अनेक विषयों का अंकन है। कृष्ण-चरित्र, रामचरित्र, नायिकायें, दरबार, संगीत आदि विषयों से सम्बन्धित चित्रकला की दृष्टि से अलवर शैली के ये प्रारम्भिक चित्र माने जा सकते हैं। रामलीला, गोवर्धन-धारण, गौचारण, हिण्डोला, वेणी-गुन्थन, दुग्ध-दोहन तथा राम का धनुष-भंग, राजतिलक आदि चित्र कृष्ण और रामलीला से सम्बन्धित हैं। इनमें गायों का चित्रण तथा प्रकृति का सतरंगा चित्रण विशेष महत्त्व का है। धनुष-भंग और राजतिलक का चित्रण बहुत बड़ा है जिसमें राजपूत शैली का स्थापत्य, केले के गाछ, हाथी और घोड़ों की सवारी तथा समूह-चित्रों का अंकन अजंता शैली की याद ताजा करता है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नायिकाओं में अँगड़ाई लेती हुई, काँटा काढ़ती हुई, शृंगार करती हुई नायिकाओं एवं दासियों का चित्रण भावपूर्ण एवं मनोहारी है। तबला, सितार, सारंगी आदि बजाती हुई स्त्रियों का चित्रण भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। महाराव प्रतापसिंह और महाराव बख्तावरसिंह जैसे राजाओं का दरबार भी दीवारों पर अंकित है। बेल-बूँटे और फूल-पत्तियों के विभिन्न डिजाइनों में रंगों की चटकता और अंकन की लयकारी कमाल की है। रेखांकन अत्यधिक सुदृढ़ एवं सूक्ष्म है। ऐसा लगता है जैसे सारा कार्य डालचन्द जैसे अनुभवी चितेरे की देखरेख में हुआ हो। राजगढ़ के किले के इस शीश-महल में अजंता के गहरे बादामी रंगों का प्रभाव अधिक है। हल्के नीले, हरे, सुनहरी रंगों का जादू इन भित्तिचित्रों को अधिक सुशोभित करता है।

उपर्युक्त शीशमहल का निर्माणकाल राव राजा प्रतापसिंहजी के पुत्र राव राजा बख्तावरसिंहजी का समय (सन् 1790-1814) माना जाये तो कोई भ्रांति होने की संभावना नहीं होगी। बख्तावरसिंहजी स्वयं कवि एवं कला-प्रेमी थे इसलिए संभावना है कि ये चित्र अलवर शैली के प्रारम्भिक एवं महत्त्वपूर्ण चित्र होने के नाते कला की दृष्टि से उत्कृष्ट भित्तिचित्र हैं। खेद है कि बिना संरक्षण के इनमें से अधिकांश चित्र नष्ट होते जा रहे हैं।

राव राज़ा प्रतापसिंहजी के उपरान्त राव राजा बख्तावरसिंहजी (सन् 1790-1814) ने राज्य की बागडोर सम्भाली। वे अत्यधिक वीर, कला-प्रेमी एवं धार्मिक प्रवृत्ति के थे। 'चन्द्रसखी' एवं 'बख्येश' के नाम से वे काव्य रचा करते थे। "दानलीला' उनका महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। राज्य की प्रशंसा एवं महाराव की गुण-ग्राह्यता को सुनकर दूर देशों से बहुत से कलाकार अलवर नगर में आये और राज्य में उनकी योग्यला का यथोचित्र सम्मान हुआ। उनके समय मे अलवर शैली विकासमान हुई। बलदेव एवं सालगा एवं सालिगराम उनके राज्य के प्रमुख चितेरे थे। बख्तावरसिंहजी के समय के सैंकड़ों चित्र राजकीय संग्रहालय, अलवर में विशेष दर्शनीय हैं, जिनमें नाथों, जोगियों, फकीरों से जंगल में धर्म-चर्चा करते हुए स्वयं महाराज का चित्रण कला की दृष्टि से उल्लेखनीय है।[19] संग्रहालय में जितने चित्र महाराज बख्तावरसिंहजी के प्राप्त हैं, उतने अन्य किसी राजा के नहीं। अलवर के प्राकृतिक परिवेश की पृष्ठभूमि में बने ये चित्र अत्यधिक मौलिक एवं अलवर शैली के उत्कृष्ट उदाहरण हैं, निश्चय ही कला-प्रेमी रावराजा बख्तावरसिंहजी का अलवर शैली को सम्मोहक एवं मौलिक स्वरूप देने में विशेष योगदान रहा है।

राव राजा बख्तावरसिंहजी के उपरान्त अलवर की चित्रकला को नया मोड़ देने का श्रेय उनके उत्तराधिकारी महाराव विनयसिंहजी, (सन् 1814-1857) एवं तिजारा के राजा बलवन्तसिंहजी (1826-1845) को है। इनके समय में अलवर की चित्रकला विविध रूप में पारिपोषित होकर अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँची। विनयसिंहजी अलवर के राजाओं में सर्वाधिक कला-प्रेमी एवं कला-पारखी हुए हैं। अलवर की चित्रकला के उत्कर्ष में उनका वही स्थान है जो मुगल चित्रकला में अकबर का था। कला-पारखी एवं गुणग्राही होने के कारण देश-देश के विद्वान शिल्पकार, चित्रकार एवं संगीतकार उनके दरबार में आकर महाराज के गुणग्राही बने। यह वह समय था जब अकबर शाह द्वितीय (सन् 1806-1837) तथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बहादुरशाह द्वितीय (1837-1859) के समय में दिल्ली की मुगलिया सल्तनत सिमट कर छोटी और जर्जरित होती जा रही थी । शाहआलमों का राज्य केवल पालम तक होने के कारण मुगलिया खानदान से सम्बन्धित कलाकार अपनी कलात्मक धरोहर को बेचने तिजारा एवं अलवर आने लगे । महाराज विनयसिंह एवं महाराज बलवन्तसिंह कला-पारखी थे ही, उन्होंने अमूल्य वस्तुओं को उचित मूल्य में खरीद कर राज्य के कला-संग्रह को समृद्ध बनाया । उन्होंने प्राचीन सचित्र पुस्तकों का संग्रह कराकर एक अपूर्व पुस्तकशाला स्थापित की । रत्न-भण्डार एवं शस्त्रालय में बहुमूल्य रत्न एवं अद्धितीय शस्त्र एकत्रित कराये तथा कलाकारों को राज्याश्रय देकर चित्रकला की अजस्त्र धारा को वेगमयी बनाया । उनके दरबार में चित्रकारों, संगीतज्ञों, सुलेखकों एवं कारीगरों की भरमार थी, बलदेव एवं सालिगराम रावराजा बख्तावरसिंहजी के समय में राज्याश्रित कलाकार थे ही, किन्तु इनको भी अपनी कला को प्रकाशित करने का सुअवसर विनयसिंहजी के समय में और अधिक मिला । स्वयं महाराज विनयसिंहजी को चित्रकारी का शौक था । वें बलदेव से चित्रकारी सीखते थे । बलदेव का दरबार में उच्च स्थान था । वे मूलतः अलवर की पारम्परिक शैली में कार्य करते थे, पर दिल्ली से आये मुगल शैली के चित्रकारों के सम्पर्क में आकर मुगल शैली के प्रभाव से युक्त सुन्दर कार्य करने लगे । यही कारण रहा कि अलवर शैली के तत्कालीन चित्रों में मुगल शैली का प्रभाव अधिक झलकने लगा ।

महाराजा विनयसिंहजी को सचित्र पुस्तकों एवं लिपटवाँ पटचित्रों (स्क्रोल) के निर्माण का अधिक शौक था । यही कारण है कि उन्होंने गुलामअली जैसे सिद्ध कलाकारों, आगामिर्जा देहलवी जैसे सुलेखकों एवं नत्थाशाह दरवेश जैसे जिल्दसाज़ों को राजकीय सम्मान देकर दिल्ली से बुलवाया । रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवतगीता, गीतगोविन्द, दुर्गा-सप्तशती, गुलिस्ताँ, कुरान आदि ग्रंथों का सुलेखन एवं चित्रांकन विनयसिंहजी की कलाप्रियता का परिचायक है । गुलिस्ताँ (रंगीन चित्र-23) का सुलेखन एवं चित्रांकन उनके राज्यकाल की एक अनोखी घटना है । इस ग्रंथ को तैयार करने पर उस समय एक लाख रुपये खर्च हुए थे । ग्रंथ के चित्र बलदेव व गुलामअली ने बनाये । इस ग्रंथ का समस्त लेखन सीठे की कलम से हुआ है । किसी भी पृष्ठ में अशुद्धि हो जाने पर वह पृष्ठ फिर से लिखा गया, इस प्रकार गुलिस्ताँ की तीन प्रतियां उस समय में सुसज्जित हुईं, जो इन्हीं के समय में तैयार हुआ है । अलवर शैली में राग-रागिनी (रंगीन चित्र-22) के अनेकं सैट प्राप्य हैं, जिनमें से अधिकतर का चित्रांकन इनके समय में हुआ । आनन्द राम कवि के छन्दों पर आधारित बारहमासा का सुन्दर सैट इसी समय का है ।

राव बख्तावरसिंहजी की खवासवाल रानी मूसी एक पुत्र छोड़कर रावराजा के साथ सती हो गयी । इनके पुत्र बलवन्तसिंह ने राज्याधिकार पाने के लिए झगड़ा किया । अन्त में आपसी विरोध मिटाने के लिए राज्य का उत्तरी भाग सन् 1826 में बलवन्तसिंह को दिला दिया गया । उन्होंने तिजारा को अपनी राजधानी बनाया, पर निःसन्तान देवलोक हो जाने पर सन् 1845 में तिजारा फिर अलवर राज्य में मिला लिया गया । अपने 23 वर्ष के राज्यकाल में राव बलवन्तसिंह ने कला की जितनी सेवा की वह अलवर के इतिहास में अविस्मरणीय रहेगा । वे कला-प्रेमी शासक थे । इनके दरबार में सालिगराम, जमनादास, छोटेलाल,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बक्साराम, नन्दराम आदि कलाकारों ने जमकर पोथी-चित्रों, लघुचित्रों एवं स्क्रोलों (लिपटवाँ पटचित्रों) का चित्रांकन किया। बलवन्तसिंह ने "दुर्गा-सप्तशती" के चित्र बनाने के लिए छोटेलाल चित्रकार को जयपुर से व सालिगराम को अलवर से बुलवाया था। छोटेलाल परदाज़ (स्टिपलिंग) का कार्य करने में दक्ष थे तथा उनकी रंग-योजना चटकदार थी। जमुनादास के सन् 1844 तक वे चित्र उपलब्ध हैं, जिनमें राजा बलवन्तसिंह एवं स्वयं चितारे का नाम संवत् भी अंकित है। जमनादास के चित्रों में रेखांकन की सुदृढ़ता और रंगों की कोमलता देखते ही बनती है। इसी समय के नामांकित बक्साराम के चित्र भी राजकीय संग्रहालय एवं महाराज के व्यक्तिगत संग्रह में उपलब्ध हैं।

तिजारा के विलीनीकरण के उपरान्त वहाँ की सारी कलात्मक धरोहर एवं कलाकार अलवर आ गये। विनयसिंहजी एवं बलवन्तसिंह ने मुगलों के शाही खजाने एवं पुस्तकालयों की अमूल्य वस्तुएँ खरीदकर अपने संग्रहालय को वैभवशाली बनाया। मुगल बादशाह की ऐतिहासिक सचित्र पुस्तकें, शाही लघु चित्रावलियाँ, अस्त्र-शस्त्र, बहुमूल्य रत्नजड़ित उपकरण आदि का संग्रह अलवर संग्रहालय की अमर धरोहर हैं, जिसके आधार पर मुगलिया तवारीख क़ो नयी पुष्टि मिल सकती है।

विनयसिंहजी के ही समय (1830) में निर्मित दीवानजी का रंगमहल (शीशमहल) भित्ति चित्रण की दृष्टि से विशेष दर्शनीय है। अलवर की भित्ति-चित्रण की परम्परा में यह दूसरा महत्त्वपूर्ण चित्रण है। बालमुकुन्द (सन् 178‿-1855) महाराव बख्तावरसिंहजी के दीवान थे तथा महाराव राजा विनयसिंहजी के भी दीवान रहे। ये अत्यधिक वीर, दानी, धर्मपरायण एवं कलाप्रेमी थे। हवेली एवं शीशमहल के बारे में उनके पौत्र का लिखा हस्तलिखित लेख इस प्रकार मिलता है। "लगभग सं. 1887 (सन् 1830) में दीवान बालमुकुन्दजी ने मुंशी बाग के कुएँ पर हवेली अपने निवास के लिए बनवाई। यह अतिविशाल लोहित वर्ण प्रमाण की सुदृढ़ हवेली है। इसका द्वार पश्चिम को है। इस द्वार के समीप होकर ऊपर शीशमहल में जाने का रास्ता है जिसमें सुनहरी काम और शीशे की जड़ाई का अनेक तरह की रंग-बिरंगी चीताई का काम हो रहा है।" यह शीशमहल भी प्रायः राजगढ़ वाले शीशमहल के ही समान बना हुआ है। एक बड़ा कमरा और उत्तर की ओर का बरामदा स्थापत्य की दृष्टि से भी सुन्दर है। कमरा श्वेत शीशों से जड़ा हुआ तथा कुछ चित्रों से सुसज्जित है तथा छत और दीवार के बीच की कोर का चौतरफा चौबीस अवतारों, छत्तीस रागरागिनियों तथा संगीतिकाओं के अत्यधिक सुन्दर चित्रों से युक्त है। दीवार पर गोवर्धन-धारण, वेणी-गुन्थन, हिण्डोला, राजतिलक तथा महफिल आदि के चित्र अंकित हैं। नायिकाओं, गणिकाओं (श्वेत श्याम चित्र-10.1) तथा द्वारपालिकाओं के चित्र भी अत्यधिक मनोहारी हैं। हावभाव मुद्राओं की दृष्टि से अलवर शैली के ये भित्तिचित्र भी बेजोड़ हैं, सुरक्षित होने के कारण इनकी दशा राजगढ़ के भित्तिचित्रों से अच्छी है, किन्तु कुल मिलाकर इस रंगमहल के रेखांकन एवं रंगों के प्रयोग में वह नफ़ासत नहीं है जो राजगढ़ के शीशमहल में है।

विनयसिंहजी के समय (सन् 1814-1857) में निर्मित यह रंगमहल अलवर की पुरानी हवेलियों के बीच में खड़ा आज भी अपनी अतीत-गाथा जर्जरित

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

हालत में सुना रहा है। अनेक मंदिरों तथा महलों का निर्माण एवं ऊपर का बेल-बूँटों का रंगीन कार्य अलवर की चित्रकला को समझने में विशेष योग देता है।

राजमहल का शीशमहल अधूरी दशा में आज भी पड़ा हुआ है। विनयसिंहजी के अन्तिम दिनों में निर्मित इस शीशमहल के बीच के बड़े कमरे में राधा-कृष्ण, शिव-पार्वती, गणेश आदि के चित्र अंकित हैं, किन्तु उनमें न कलम की उतनी बारीकी है और न ही रंगों का जादू। चित्रों में फोटोग्राफी का प्रभाव स्पष्ट झलकता है। पास के कमरे में तो कागज के बने लघुचित्रों को दीवार पर चिपका कर ऊपर शीशा लगा दिया है, किन्तु इस प्रकार के चित्र भित्तिचित्र की परम्परा में नहीं आ सकते, हालाँकि ऐसे प्रयोग राजस्थान के अनेक महलों में द्रष्टव्य हैं।

विनयसिंहजी के उपरान्त सवाई शिवदानसिंहजी (सन् 1859-1874) का समय भी चित्रकला की दृष्टि से कम महत्त्व का नहीं है। हिन्दी और फारसी के विद्वान थे। चित्रकारी एवं सुलेखन सीखने में उनकी अभिरुचि थी। किन्तु विलासी अधिक होने के कारण उनकी कलात्मक अभिरुचि भी विलास-वैभव से परिपूर्ण थी। काम-कला के आधार पर निर्मित उनके समय के सैकड़ों कामुक चित्र चित्रकला की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। संगीत के प्रति उनकी विशेष अभिरुचि होने के कारण उनके दरबार में गणिकाओं एवं अन्य कलावन्तों का जमघट लगा रहता था। इनके समय में चित्रित रण्डियों के सैकड़ों व्यक्तिचित्र संग्रहालय में उपलब्ध हैं, जिन पर फोटोग्राफी के प्रभाव के कारण कम्पनी शैली का पूर्ण प्रभाव लक्षित होता है। इनके समय में ही अलवर शैली के वैभव का ह्रास होने लग गया था। पाश्चात्य प्रभाव के कारण फोटोग्राफी का अधिक प्रचलन हो गया और अलवर-शैली का काव्यात्मक सौन्दर्य, रंगों की प्रखरता और रेखाओं की सबलता तथा परदाज़ का अंकन धीरे-धीरे लुप्त होने लगा।

महाराज मंगलसिंहजी अपने पूर्वज़ों के विपरीत ललितकलाओं के प्रति विशेषतः चित्रकला के प्रति विशेष अनुराग नहीं रखते थे, किन्तु फिर भी राज्य की कलात्मक परम्परा को नानगराम, बुद्धाराम, उदयराम, मूलचन्द, जगन्नाथ, रामगोपाल, विशनलाल आदि चितेरे निभाते रहे। बुद्धाराम, पशु-पक्षियों के चित्रांकन में सिद्धहस्त थे। वे राजगढ़ के किले के शीशमहल एवं अलवर संग्रहालय के दारोगा थे। मूलचन्द हाथीदाँत पर चित्र बनाने में प्रवीण थे। हाथीदाँत पर अंकित अनेक व्यक्तिचित्र अलवर-शैली की अनुपम विशेषता है।

राजस्थान के मन्दिरों और छतरियों में भी भित्ति-चित्रण की परम्परा पनपी है। अलवर भी इस परम्परा के वहन करने में पीछे नहीं रहा है। थाने में मंगलसिंहजी की माताजी द्वारा निर्मित मंदिर तथा भूरा सिद्ध के मन्दिर में अनेक चित्र बने हुए हैं, किन्तु बाद के होने के कारण वे कला की दृष्टि से इतने उत्कृष्ट नहीं हैं। राजमहल के मंदिरों में भी यत्र-तत्र चित्रण मिलता है जो बिना देखरेख के प्रायः समाप्त ही हो गया है। लड्डू खवासजी के मंदिर में कागज पर निर्मित लघुचित्रों को दीवार पर सटाकर ऊपर से शीशा लगा दिया गया है। वे चित्र कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

थाने की हनुवन्तसिंह की छतरी, राजगढ़ की खवास के बाग की छतरी एवं माचेड़ी के बाग की छतरी तथा ताल वृक्ष की छतरी में जो भित्तिचित्र बने हुए हैं, वे काल-कवलित होते हुए भी अपने वैभव की झाँकी आज भी दे रहे हैं। इनमें राम और कृष्ण की लीलाओं एवं राजाओं की सवारी एवं दरबार के चित्र अधिक अंकित हैं। निश्चय ही इन छतरियों की कला में लोक-कला का प्रभाव अधिक है। रेखांकन एवं रंग-संयोजन भी लोक-कलात्मक अधिक है जिससे अलवर में लोक-कलात्मक चित्रण के विकास का सहज ही परिचय मिलता है।

उपर्युक्त अलवर के भित्तिचित्रों के अवलोकन से ज्ञात होता है कि अलवर में जिस चित्र-शैली का विकास हुआ, वह द्विधारा में प्रवाहित हुई – एक भित्ति-चित्रों के रूप में और दूसरे पोथी-ग्रंथों एवं लघु-चित्रों के रूप में।

अलवर के भूतपूर्व महाराज श्री जयसिंहजी बहुमुखी प्रतिभा वाले व्यक्ति थे। संगीत, चित्रकला एवं स्थापत्य कला उनके समय में विशेषतः विकसित हुई। राजपूती कला के सम्पूर्ण वैभव से युक्त उनकी सवारी का एक 10 फुट लम्बा और 2 फुट चौड़ा चित्र उल्लेखनीय है। इस चित्र को बनाने वाले स्वर्गीय रामसहाय नेपालिया का नाम विशेष स्मरणीय है। श्री रामगोपाल, रामप्रसाद, जगमोहन, ओंकारनाथ आदि चितेरों का योगदान भी कम महत्त्व का नहीं है। कहना न होगा कि योरोपीय प्रभाव, फोटोग्राफी के आविष्कार आदि ने अलवर शैली की महत्त्वपूर्ण परम्परा को भी प्रायः समाप्त कर दिया। आज उसका वैभव संग्रहालयों, व्यक्तिगत संग्रहों तथा शीश महलों और मंदिरों में छिपा पड़ा है।

अलवर शैली के विषय

जैसा कि पहले संकेत दिया जा चुका है, अलवर शैली में विषय की दृष्टि से विविधता रही है। बख्तावरसिंहजी के समय तक राजपूती दरबारी वैभव, महफिलें, कृष्णलीला, रामलीला, प्राकृतिक परिवेश में साधु-संतों एवं नाथों से धर्म-चर्चा, राग-रागिनी (रंगीन चित्र-22) आदि का विशेष चित्रण हुआ। विनयसिंहजी और बलवन्तसिंहजी ने रागरागिनी, बारहमासा तथा संस्कृत, हिन्दी की पुस्तकों का चित्रण विशेष करवाया जिसमें महाभारत, गीता, रामायण, शिव-कवच, दुर्गा-सप्तशती, गीतगोविन्द, काली सहस्रनामा, महिमन-स्रोत आदि विशेष उल्लेखनीय हैं।

मुगलिया दरबार के अनेक मुसलमान कलाकारों एवं सामन्तों के सम्पर्क के कारण अलवर की चित्रकला में राजपूती वैभव के स्थान पर मुगलई चित्रकला एवं मुस्लिम विषयों का प्रभाव (रंगीन चित्र-23) अधिक आने लगा, जिसके फलस्वरूप कुरान, गुलिस्ताँ, बदरे मुनीर आदि ग्रंथों को विषय बनाकर विस्तार से चित्रांकन हुआ। पोथी-चित्रण के साथ ही लघुचित्रों में भी मुगल विषयों का आधिक्य विशेष दर्शनीय है। विषय की दृष्टि से तीसरा दौर शिवदानसिंहजी के समय (सन् 1857) से प्रारम्भ होता है। फोटोग्राफी के प्रभाव के कारण इनके समय में व्यक्तिचित्र अधिक बनने लगे। कामशास्त्र के आधार पर तथा गणिकाओं के सैकड़ों चित्र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इनके समय के उपलब्ध होते हैं। योगासन भी अलवर शैली का प्रमुख विषय रहा है। इस प्रकार समूह-चित्रों से व्यक्ति-चित्रण की ओर अलवर शैली अग्रसर हुई है।

अलवर-शैली की विशेषताएँ

बख्तावरसिंहजी के समय के प्रारम्भिक चित्रों तक में राजस्थानी शैली की सम्पूर्ण विशेषताएँ अलवर की चित्रकला में दर्शनीय हैं, इसलिए जयपुर-शैली से उन्हें अलग कर पाना थोड़ा कठिन है, किन्तु फिर भी प्रदेश के प्राकृतिक सौन्दर्य, रहन-सहन एवं शारीरिक प्रभाव इन चित्रों में द्रष्टव्य है। भावात्मकता, रागात्मकता और लोग-कलात्मकता से युक्त ये चित्र रेखाँकन एवं रंग-संयोजन की दृष्टि से सुन्दर हैं।

अपने चरम उत्कर्ष के समय में अलवर शैली में ईरानी, मुगल (रंगीन चित्र-23) और राजस्थानी विशेषतः जयपुर शैली का आश्चर्यजनक संतुलित समन्वय देखते ही बनता है। इस समन्वय के कारण अलवर शैली के स्वरूप को आसानी से पहचाना जा सकता है। पुरुषों के मुख की आकृति आम की शक्ल (रंगीन चित्र-22) में अर्थात् ठोड़ी में थोड़ा खम देकर बनाई गयी है। स्त्रियों के कद कुछ ठिगने, उठी हुई वेणियाँ, अत्यधिक परिश्रम से बनाये गये अंग-प्रत्यंग अलवर शैली की निजी विशेषता है। वेशभूषा में स्थानीय प्रभाव पगड़ियों के बंधेज में स्पष्ट झलकता है। पुरुषों एवं स्त्रियों के पहनावे में राजपूती एवं मुगलई (श्वेत श्याम चित्र-101) वेशभूषा का प्रभाव लक्षित होता है। अलवर का प्राकृतिक परिवेश इस शैली के चित्रों में वन, उपवन, कुंज, (रंगीन चित्र-22) विहार, महल, अटारी आदि के चित्राँकन में देखा जा सकता है।

सुन्दर बेलबूँटों वाली वस्लियों का निर्माण अलवर शैली की निजी विशेषता है। इस वस्लियों का व्यापार सन् 47 तक होता रहा था। व्यापारी लोग वहाँ की बेलबूँटेदार वस्लियाँ लेकर उन पर पुराने चित्र लगा देते थे, जिससे उनकी शोभा द्विगुणित हो जाती थी। इस शैली के चित्र अत्यधिक परिश्रम से बनाये गये सुन्दर मुखाकृति वाले, बेलबूँटेदार हाशियों से युक्त और सुवर्ण के आलेखनों से सजे शोभनीय होते हैं। मुगल-शैली जैसा बारीक काम, परदाज़ों की धुएँ के समान छाया तथा रेखाओं की सुघड़ता अलवर के चित्रण में कमाल की है।

रंगों का चुनाव भी अलवर शैली का अपना निजी है। चिकने और उज्ज्वल रंगों के प्रयोग ने इन चित्रों को आकर्षित बना दिया है, लाल, हरे और सुनहरी रंगों का प्रयोग शैली में विशेष हुआ है। सफेद बादल, शुभ्र-आकाश, पशु-पक्षियों से युक्त (रंगीन चित्र-22) वन-उपवन, नदी-नाले, पर्वत आदि का अंकन अलवर के प्राकृतिक परिवेशानुकूल ही हुआ है।

शताधिक वर्षों से पनपी एवं विकसित हुई अलवर की चित्रकला राजस्थानी चित्रकला की अमर धरोहर है, जिसकी उपलब्धि देश-विदेश के अनेक राजकीय एवं व्यक्तिगत संग्रहालयों में विपुलता से प्राप्त होती है। अलवर शैली का अध्ययन न होने के कारण उसके चित्रों को मुगल शैली और जपयुर शैली के चित्रों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

की श्रेणी में रखा जाता है जो कला के विभाजन की दृष्टि से भ्रामक है। निश्चय ही विस्तृत अध्ययन से अलवर शैली के अन्य कितने ही नये आयाम खुलेंगे।

उणियारा उपशैली

उणियारा ठिकाणा जो कि टोंक ज़िले में है; के रंगमहल के भित्ति-चित्रों, रावराजा राजेन्द्रसिंह उणियारा के व्यक्तिगत संग्रह के लघुचित्रों, कुमार संग्रामसिंह के निजी संग्रह तथा अन्य चित्रों के आधार पर उणियारा के चित्रों की अलग पहचान उभरकर सामने आती है, जिससे उसको जयपुर की उपशैली के अन्तर्गत रखा जा सकता है। जयपुर और बूँदी रियासतों की सीमा पर बसे उणियारा ठिकाने ने रक्त-सम्बन्धों के कारण जयपुर और वैवाहिक सम्बन्धों के कारण बूँदी के कलात्मक प्रभाव को अपनाकर एक नयी शैली का प्रादुर्भाव किया, जिसे उणियारा उपशैली के नाम से जाना जाता है।

आमेर के कछवाहों में नरूजीं के वंशज नरूका कहलाये। इन्हीं की वंश-परम्परा में राव चन्द्रभान दासावत (1586-1660) ने मुगल पक्ष में कान्धार युद्ध (1606) में अत्यधिक शौर्य प्रदर्शित किया, जिससे प्रसन्न होकर मुगल बादशाह ने इनको उणियारा, नगर, ककोड़ और बनेठा के चार परगने जागीर में दिये।

राव चन्द्रभान की पाँचवीं पीढ़ी में रावराजा सरदारसिंह (1740-77) कला-प्रेमी सामंत हुए, जिन्होंने उणियारा और नगर में सुन्दर महल बनवाये तथा अपने यहाँ धीमा, मीरबक्स, काशी, रामलखन, भीम आदि कलाकारों को आश्रय प्रदान किया। नगर और उणियारा के रंगमहलों के भित्तिचित्रों (श्वेत श्याम चित्र-12) के अवलोकन से ज्ञात होता है कि इन पर बूँदी और जयपुर-शैली का समन्वित प्रभाव है।

नगर के भित्तिचित्रों पर जहाँ बूँदी शैली का पूर्ण प्रभाव है तो उणियारा के रंगमहल के चित्रों में बूँदी और जयपुर कलम का प्रभाव विशेष दर्शनीय है। रंगमहल जो अब जर्जरित दशा में है के भित्तिचित्र अत्यधिक कलात्मक एवं विषय-वैविध्यपूर्ण हैं। कवि केशव की कविप्रिया पर आधारित बारहमासा, रागरागिनी, राजाओं के व्यक्तिचित्र तथा अनेक धार्मिक चित्र यहाँ अंकित हैं। राजाओं में नरूजी, दासाजी, चन्द्रभान, फतहसिंह, संग्रामसिंह, सरदारसिंह, जसवन्तसिंह, अजीतसिंह (श्वेत श्याम चित्र-12) विसनसिंह, भीमसिंह तथा बूँदी के बुद्धसिंह, जयपुर, कोटा, मेवाड़ आदि राजाओं के व्यक्तिचित्र अत्यधिक सुघड़ता से बनाये गये हैं। धार्मिक चित्रों में कृष्णलीला, रामदरबार (श्वेत श्याम चित्र-11) शिव-पार्वती, विष्णु के विभिन्न अवतारों का चित्रण दर्शनीय है।

अनेक पोथी-चित्रों (MSS) तथा लघुचित्रों के माध्यम से भी उणियारा उप-शैली का ज्ञान होता है। रावराजा राजेन्द्रसिंह उणियारा के निजी संग्रह का भागवत- पुराण, रामायण तथा अनेक लघुचित्र कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। कुमार संग्रामसिंह के निजी संग्रह में उणियारा के अनेक लघुचित्र (रंगीन चित्र-19) उपलब्ध हैं जिनमें रावराजा सरदारसिंह की जनानी एवं मरदानी महफिल के चित्र विशेष उल्लेखनीय हैं। राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली में भी कुछ चित्र देखे जा सकते हैं।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपर्युक्त भित्तिचित्रों, पोथी-चित्रों एवं लघुचित्रों की उपलब्धि के आधार पर उणियारा उपशैली का एक अलग स्वरूप बनता है, जिसमें दो शैलियों के समन्वय से एक नयी चित्राँकन परम्परा विकसित हुई। उणियारा ठिकाणा जयपुर राज्य के तत्वावधान में रहा, साथ ही कुशवाहों की सांस्कृतिक परम्परा का वहाँ निर्वाह हुआ, अतः जयपुर शैली की शारीरिक बनावट, रंगयोजना, वेशभूषा आदि का पूर्ण प्रभाव उणियारा उपशैली पर है। जयपुर के अनेक क़लाकारों का योगदान भी इसी शैली पर है। बूँदी के पास होने के भौगोलिक कारण एवं रावराजा सरदारसिंह की पुत्री का बूँदी नरेश दलेलसिंह को अपनी लड़की ब्याहने के वैवाहिक सम्बन्धों के कारण बूँदी के कलाकारों का उणियारा में आवागमन हुआ जिससे यहाँ के चित्रों के स्थापत्य प्राकृतिक परिवेश एवं चेहरों की बनावट और साज-सज्जा पर बूँदी- शैली का पूर्ण प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

नगर और उणियारा के महलों के भित्ति-चित्रों के रहते इस उपशैली पर विस्तार से कार्य होने की आवश्यकता है।

ढूँढ़ाड़-स्कूल की अन्य शैलियाँ एवं ठिकाणा कला

उपर्युक्त शैलियों के अतिरिक्त ढूँढ़ाड़-क्षेत्र की अन्य शैलियों, उपशैलियों एवं ठिकाणों की कला का विस्तृत सर्वेक्षण होना जरूरी है। विशेषतः भरतपुर, करौली क्षेत्र की कला पर अभी तक विस्तृत अध्ययन नहीं हुआ है। जयपुर के प्रमुख ठिकाणों जैसे ईसरदा, झिलाय, डिग्गी, चौमूँ-सामोद, दूदू आदि क्षेत्रों की कला के उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं।

भरतपुर पूर्वांचल में एक महत्त्वपूर्ण जाट स्टेट रही है। ब्रजप्रदेश के समीप होने के कारण यहाँ की कला पर ब्रज संस्कृति का पूर्ण प्रभाव है। राधा-कृष्ण की लीलाओं से रंगा यह अंचल चित्रकला की दृष्टि से भी ब्रज की चित्रकला का ही अंग माना जा सकता है। गोवर्धन स्थित छतरियों में जो चित्रांकन है, उसे ब्रज की चित्रकला का ही प्रारूप कहा जा सकता है। डीग, कामाँ आदि के महलों एवं मंदिरों के भित्तिचित्रों को ब्रज की चित्रकला से अलग करना कठिन है, पर वहाँ के राजाओं के जो व्यक्तिचित्र बने हैं, उन पर ढूँढ़ाड़ स्कूल और विशेषतः जयपुर शैली का प्रभाव द्रष्टव्य है। अलवर संग्रहालय का सूरजमल का एक व्यक्तिचित्र, कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय का जवाहरसिंह का व्यक्ति-चित्र विशेष उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त भी भरतपुर के महलों, हवेलियों, छतरियों आदि का सर्वेक्षण होना जरूरी है।

यदुवंशी राजपूतों की छोटी-सी स्टेट करौली की चित्राँकन परम्परा ब्रज एवं जयपुर की कला से पूर्णतः प्रभावित है। जहाँ चित्रकला पर सामंती प्रभाव है, वहीं कृष्ण के वंशज होने के कारण कृष्ण-चरित्र की लीलाओं का चित्राँकन भी करौली में विस्तार से हुआ है। मदनमोहनजी के मंदिर की संस्कृति ने वहाँ की चित्रकला को अत्यधिक प्रभावित किया है।

पिछले दिनों बहुत वर्षों बाद किले की सफाई हुई, अतः किले के भित्ति-चित्रों (श्वेत श्याम चित्र-9.2) की शृंखला देखने को मिली। यह आश्चर्य की ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बात है कि किले में अवस्थित लगभग आधे दर्जन से अधिक कमरे, हॉल समय-समय पर विस्तार से चित्रित किये गये हैं। चित्रण की यह शृंखला राजस्थान के अन्य महलों की तुलना में विस्तृत जान पड़ती है। फूल-पत्तियों का विस्तृत अलंकरण यहाँ चमत्कृत कर देता है साथ ही राजाओं के व्यक्तिचित्र भी करौली कलम की विशेषता लिये हुए हैं। छत पर ज्यामितिक अनेक पैटर्न कलात्मक हैं, जिनमें रंगों की खिलावट और रेखाँकन की सधावट देखते ही बनती है। किले के चित्रों का विस्तृत सर्वेक्षण अभी भी होना बाकी है।

किले के पूर्व में बनी अनेक छतरियों विशेषत : गोपालसिंह की छतरी का (श्वेत श्याम चित्र-10.2) चित्राँकन भी लोक-कला के उदाहरणों से युक्त है। मदनमोहनजी के मंदिर की दीवारों पर कृष्ण-चरित्र की विभिन्न झाँकियों के चित्र पुष्टि-सम्प्रदाय की परम्परा के अनुकूल बने हुए हैं। ये चित्र समय-समय पर बनते रहे हैं, इसलिए कंपनी-शैली का प्रभाव भी चित्रों में द्रष्टव्य है। इसी प्रकार कैलादेवी के मंदिर के भित्तिचित्र भी करौली कलम के अन्तर्गत ही आते हैं। यह बात दूसरी है कि जयपुर, अलवर के कलाकारों को बुलवाकर यहाँ चित्रण करवाया गया हो।

करौली के लघुचित्रों की परम्परा पर अभी खोज होना बाकी है। महाराजा के निजी संग्रह में राजाओं के व्यक्तिचित्र एवं कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय के कुछ लघुचित्र इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। पगड़ी बाँधने का अलग ढंग एवं फहराती हुई दाढ़ी (रंगीन चित्र-24) का रेखाँकन करौली कलम की अलग पहचान कराते हैं।

जयपुर के कुछ महत्त्वपूर्ण ठिकाणों का समय-समय पर वर्चस्व रहा है, अतः वहाँ भी चित्राँकन होता रहा है। ईसरदा, डिग्गी-मालपुरा से समय-समय पर कुछ सचित्र ग्रंथ एवं लघुचित्र उपलब्ध हुए हैं, जिनमें ठिकाणों की अलग पहचान झलकती है। दूदू तथा सामोद के महलों के भित्तिचित्र जयपुर की भित्तिचित्रण परम्परा में ही आते हैं क्योंकि जयपुर के ही कलाकारों को इस कार्य के लिए समय-समय पर नियुक्त किया गया लगता है।

इस प्रकार ढूँढाड़ स्कूल की चित्रण-परम्परा दूर-दूर के क्षेत्रों में फैली हुई है जिसका वैज्ञानिक सर्वेक्षण होना अभी भी शेष है।

सन्दर्भ

1. वी.एस. भार्गव : दि राइज ऑफ दि कछावाज इन ढूँढाड़, पृ. 1, 2
2. देखिए, डॉ. एम.एल. शर्मा : हिस्ट्री ऑफ जयपुर स्टेट, पृ. 11
3. आदि पुराण संवत् 1597 फाल्गुन सुदी तेरस। श्री दिगम्बर जैन तेरापंथी मंदिर, जयपुर में द्रष्टव्य
4. कार्ल खण्डालवाला, जगदीश मित्तल : ललितकला अंक-16
5. सोमप्रकाश वर्मा : आर्ट एण्ड मेटीरियल कल्चर इन दी पेण्टिंग ऑफ अकबर कोर्ट, पृ. 124-130

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उपर्युक्त भित्तिचित्रों, पोथी-चित्रों एवं लघुचित्रों की उपलब्धि के आधार पर उणियारा उपशैली का एक अलग स्वरूप बनता है, जिसमें दो शैलियों के समन्वय से एक नयी चित्राँकन परम्परा विकसित हुई। उणियारा ठिकाणा जयपुर राज्य के तत्वावधान में रहा, साथ ही कुशवाहों की सांस्कृतिक परम्परा का वहाँ निर्वाह हुआ, अतः जयपुर शैली की शारीरिक बनावट, रंगयोजना, वेशभूषा आदि का पूर्ण प्रभाव उणियारा उपशैली पर है। जयपुर के अनेक कलाकारों का योगदान भी इसी शैली पर है। बूँदी के पास होने के भौगोलिक कारण एवं रावराजा सरदारसिंह की पुत्री का बूँदी नरेश दलेलसिंह को अपनी लड़की ब्याहने के वैवाहिक सम्बन्धों के कारण बूँदी के कलाकारों का उणियारा में आवागमन हुआ जिससे यहाँ के चित्रों के स्थापत्य प्राकृतिक परिवेश एवं चेहरों की बनावट और साज-सज्जा पर बूँदी- शैली का पूर्ण प्रभाव दृष्टिगोचर होता है।

नगर और उणियारा के महलों के भित्ति-चित्रों के रहते इस उपशैली पर विस्तार से कार्य होने की आवश्यकता है।

ढूँढ़ाड़-स्कूल की अन्य शैलियाँ एवं ठिकाणा कला

उपर्युक्त शैलियों के अतिरिक्त ढूँढ़ाड़-क्षेत्र की अन्य शैलियों, उपशैलियों एवं ठिकाणों की कला का विस्तृत सर्वेक्षण होना जरूरी है। विशेषतः भरतपुर, करौली क्षेत्र की कला पर अभी तक विस्तृत अध्ययन नहीं हुआ है। जयपुर के प्रमुख ठिकाणों जैसे ईसरदा, झिलाय, डिग्गी, चौमूँ-सामोद, दूदू आदि क्षेत्रों की कला के उदाहरण भी उपलब्ध होते हैं।

भरतपुर पूर्वांचल में एक महत्त्वपूर्ण जाट स्टेट रही है। ब्रजप्रदेश के समीप होने के कारण यहाँ की कला पर ब्रज संस्कृति का पूर्ण प्रभाव है। राधा-कृष्ण की लीलाओं से रंगा यह अंचल चित्रकला की दृष्टि से भी ब्रज की चित्रकला का ही अंग माना जा सकता है। गोवर्धन स्थित छतरियों में जो चित्रांकन है, उसे ब्रज की चित्रकला का ही प्रारूप कहा जा सकता है। डीग, कामाँ आदि के महलों एवं मंदिरों के भित्तिचित्रों को ब्रज की चित्रकला से अलग करना कठिन है, पर वहाँ के राजाओं के जो व्यक्तिचित्र बने हैं, उन पर ढूँढ़ाड़ स्कूल और विशेषतः जयपुर शैली का प्रभाव द्रष्टव्य है। अलवर संग्रहालय का सूरजमल का एक व्यक्तिचित्र, कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय का जवाहरसिंह का व्यक्ति-चित्र विशेष उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त भी भरतपुर के महलों, हवेलियों, छतरियों आदि का सर्वेक्षण होना जरूरी है।

यदुवंशी राजपूतों की छोटी-सी स्टेट करौली की चित्राँकन परम्परा ब्रज एवं जयपुर की कला से पूर्णतः प्रभावित है। जहाँ चित्रकला पर सामंती प्रभाव है, वहीं कृष्ण के वंशज होने के कारण कृष्ण-चरित्र की लीलाओं का चित्राँकन भी करौली में विस्तार से हुआ है। मदनमोहनजी के मंदिर की संस्कृति ने वहाँ की चित्रकला को अत्यधिक प्रभावित किया है।

पिछले दिनों बहुत वर्षों बाद किले की सफाई हुई, अतः किले के भित्ति-चित्रों (श्वेत श्याम चित्र-9.2) की शृंखला देखने को मिली। यह आश्चर्य की ही

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

बात है कि किले में अवस्थित लगभग आधे दर्जन से अधिक कमरे, हॉल समय-समय पर विस्तार से चित्रित किये गये हैं। चित्रण की यह शृंखला राजस्थान के अन्य महलों की तुलना में विस्तृत जान पड़ती है। फूल-पत्तियों का विस्तृत अलंकरण यहाँ चमत्कृत कर देता है साथ ही राजाओं के व्यक्तिचित्र भी करौली कलम की विशेषता लिये हुए हैं। छत पर ज्यामितिक अनेक पैटर्न कलात्मक हैं, जिनमें रंगों की खिलावट और रेखाँकन की सधावट देखते ही बनती हैं। किले के चित्रों का विस्तृत सर्वेक्षण अभी भी होना बाकी है।

किले के पूर्व में बनी अनेक छतरियों विशेषत : गोपालसिंह की छतरी का (श्वेत श्याम चित्र-10.2) चित्राँकन भी लोक-कला के उदाहरणों से युक्त है। मदनमोहनजी के मंदिर की दीवारों पर कृष्ण-चरित्र की विभिन्न झाँकियों के चित्र पुष्टि-सम्प्रदाय की परम्परा के अनुकूल बने हुए हैं। ये चित्र समय-समय पर बनते रहे हैं, इसलिए कंपनी-शैली का प्रभाव भी चित्रों में द्रष्टव्य है। इसी प्रकार कैलादेवी के मंदिर के भित्तिचित्र भी करौली कलम के अन्तर्गत ही आते हैं। यह बात दूसरी है कि जयपुर, अलवर के कलाकारों को बुलवाकर यहाँ चित्रण करवाया गया हो।

करौली के लघुचित्रों की परम्परा पर अभी खोज होना बाकी है। महाराजा के निजी संग्रह में राजाओं के व्यक्तिचित्र एवं कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय के कुछ लघुचित्र इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। पगड़ी बाँधने का अलग ढंग एवं फहराती हुई दाढ़ी (रंगीन चित्र-24) का रेखाँकन करौली कलम की अलग पहचान कराते हैं।

जयपुर के कुछ महत्त्वपूर्ण ठिकाणों का समय-समय पर वर्चस्व रहा है, अतः वहाँ भी चित्राँकन होता रहा है। ईसरदा, डिग्गी-मालपुरा से समय-समय पर कुछ सचित्र ग्रंथ एवं लघुचित्र उपलब्ध हुए हैं, जिनमें ठिकाणों की अलग पहचान झलकती है। दूदू तथा सामोद के महलों के भित्तिचित्र जयपुर की भित्तिचित्रण परम्परा में ही आते हैं क्योंकि जयपुर के ही कलाकारों को इस कार्य के लिए समय-समय पर नियुक्त किया गया लगता है।

इस प्रकार ढूँढाड़ स्कूल की चित्रण-परम्परा दूर-दूर के क्षेत्रों में फैली हुई है जिसका वैज्ञानिक सर्वेक्षण होना अभी भी शेष है।

सन्दर्भ

1. वी.एस. भार्गव : दि राइज ऑफ दि कछावाज इन ढूँढाड़, पृ. 1, 2
2. देखिए, डॉ. एम.एल. शर्मा : हिस्ट्री ऑफ जयपुर स्टेट, पृ. 11
3. आदि पुराण संवत् 1597 फाल्गुन सुदी तेरस। श्री दिगम्बर जैन तेरापंथी मंदिर, जयपुर में द्रष्टव्य
4. कार्ल खण्डालवाला, जगदीश मित्तल : ललितकला अंक-16
5. सोमप्रकाश वर्मा : आर्ट एण्ड मेटीरियल कल्चर इन दी पेण्टिंग ऑफ अकबर कोर्ट, पृ. 124-130

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

6. महावीर ग्रन्थ भण्डार, जयपुर में सुरक्षित
7. कार्ल खण्डालवाला : वाल पेन्टिंग्स फ्रॉम आमेर
8. देखिये, वही विभिन्न फलक
9. प्रसिद्ध विराटनगर के उत्तर-पश्चिमी भाग में यह छतरी आज भी प्राचीन भित्तिचित्रण का अनुपम उदाहरण है
10. डॉ. रघुवीरसिंह : पूर्व आधुनिक राजस्थान, पृ. 4
11. देखिये, वही, पृ. 158
12. देखिये, कु. संग्रामसिंह : जयपुर्स यूनिक कन्ट्रीब्यूशन टू राजस्थान वार्षिकी- 63, पृ. 23
13. रामगोपाल विजयवर्गीय : राजस्थान की चित्रकला, पृ. 25
14. सिटी पैलेस म्यूजियम में देखिये
15. देखिये, पद्माकर का जगद्विनोद (सं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र), पृ. 71
16. हरमैन गोएट्ज : दि बिगनिंग ऑफ यूरोपियन इन्फ्लुएन्स इन राजपूत आर्ट, जनरल ऑफ इण्डियन हिस्ट्री, सं. 17, 1938, पृ. 332-334
17. विजय कुमार : गणेश्वर जोधपुरा कल्चर, दि रिसर्चर, अंक- 14-15
18. फ्रौंन्सिस वाजियर्ग, अमननाथ : राजस्थान दि पेन्टेडवाल्स ऑफ शेखावाटी
19. इस दृष्टि से अलवर का राजकीय संग्रहालय देश के प्रमुख संग्रहालयों में गिना जाता है
20. डॉ. रघुवीरसिंह : पूर्व आधुनिक राजस्थान, पृ. 193
21. डॉ. जयसिंह नीरज : राजस्थानी चित्रकला और हिन्दी कृष्ण-काव्य, पृ. 49
22. विशेष अध्ययन हेतु देखें, डॉ. जयसिंह नीरज : विनय : अलवर-अंक- 1969
23. राजकीय संग्रहालय, अलवर में देखिये
24. कैटलॉग एण्ड गाइड टू गवर्नमेण्ट म्यूजियम, अलवर
25. मखदूम शेख मुहम्मद : अरगंजे तिजारा, पृ. 5-7.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

8

राजस्थानी चित्रकला का सौन्दर्य-बोध

राजस्थानी चित्रकला की उपर्युक्त वृहद् समृद्धशाली परम्परा का रूपप्रद कला के मूलाधारों तथा सौन्दर्यशास्त्र के आधार पर अध्ययन होना अति-आवश्यक है। अभी तक राजस्थानी चित्रकला की विभिन्न शैलियों एवं उपशैलियों पर जो भी पुस्तकें प्रकाश में आयी हैं, उनमें ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं उनके विकासात्मक पहलू पर अधिक ध्यान केन्द्रित रहा है। राजस्थानी चित्रकला संसार की चित्रण-पद्धति में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है, अतः अब उसके आन्तरिक सौन्दर्य और कला-पक्ष का विस्तृत अध्ययन अपेक्षित हो गया है। आधुनिक वैज्ञानिक युग में चित्र, चित्रकार और दर्शक के पारस्परिक सम्बन्धों और कला के सौन्दर्यशास्त्र की पकड़ के बिना राजस्थानी चित्रकला की विशिष्टताओं को पकड़ पाना आसान नहीं है। यही नहीं वरन् इस विराट कला-क्षेत्र को गहराई से परखने के लिए साहित्य, संगीत, शिल्प के अतिरिक्त भौगोलिक, ऐतिहासिक, धार्मिक, मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि की भी जानकारी होना आवश्यक है। राजस्थानी रीति-रिवाज़, साँस्कृतिक-परम्परा, जीवन-शैली, खान-पान, वेशभूषा की परिचिति इसके अध्ययन में चार चाँद लगा देती है। चित्रकला चाक्षुष कला होने के कारण सच्चाई के बहुत समीप है, इसलिए इसमें साहित्य और संगीत की भाँति अस्पष्टता (एम्बीग्वीटी) की गुँजाइश कतई नहीं है।

राजस्थानी चित्रकला भी अन्य चित्रण-शैलियों की भाँति चित्रण की मूलभूत विशिष्टताओं के कारण वस्तुगत सौन्दर्य-दृष्टि से ही मापी जा सकती है, किन्तु फिर भी समग्र चित्र की बनावट एक दार्शनिक, आत्मपरक प्रभाव अवश्य छोड़ती है, जो हमें अलौकिक आनन्द की अनुभूमि प्रदान करती है। पंचेन्द्रिय को सुखद लगने वाले उपकरण सौन्दर्य के शास्त्र हैं। वस्तु की सुडौलता, संमात्रा, आकार, रूप, व्यवस्थित क्रम, एकान्विति, स्पष्टता, मसृणता, स्निग्धता, वर्ण-दीप्ति, सुकुमारता, कोमलता, सामंजस्य-संतुलन, संश्लिष्ट समन्वय, अनुपात, माधुर्य, उदात्तता आदि तो राजस्थानी चित्रकला की अलग ठसक उजागर करते ही हैं, पर एक आत्मा को मंत्रमुग्ध कर देने वाली समन्वित आभा उसकी अनोख़ी छटा दर्शक के दिल पर छा जाती है। वास्तव में यही उसका आन्तरिक सौन्दर्य है जिसका बखान करना गूँगे के गुड़ की भाँति है।

राजस्थानी चित्रकला का संबंध जनजीवन के पारिवारिक एवं सामाजिक परिप्रेक्ष्य से अधिक रहा है, इसलिए राजस्थानी समाज के तीज-त्यौहार, उत्सव,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

उनकी जीवन-शैली, उनके साँस्कृतिक आचार-विचारों से यह चित्रकला प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से जुड़ी हुई है। जहाँ भित्ति-चित्रण में लोक-जीवन की विषयवस्तु और तकनीक का विस्तृत प्रयोग हुआ है, वहीं 17वीं-18वीं शती के लघुचित्रों में दरबारी सामंती जीवन का परिदृश्य बहुलता से अंकित हुआ है। दूसरी ओर ग्रंथ-चित्रण की परम्परा में रामचरित्र, कृष्ण-चरित्र, महावीर स्वामी-चरित्र, लोक-कथाएँ, रागरागिनी, नायिका-भेद तथा विविध विषयों का अंकन राजस्थानी चित्रकला की अपनी निजी विशेषता रही है।

भौगोलिक और प्राकृतिक दृष्टि से राजस्थान के विशाल भूभाग में जहाँ वैविध्य मिलता है, उसी के अनुसार राजस्थानी चित्रकाल की विभिन्न शैलियों, उपशैलियों और ठिकाणा कला में प्रकृति-परिवेश, पेड़-पौधे, फूल-पत्तियाँ, पशु-पक्षी आदि का अंकन भी स्थान की विशिष्टताओं के अनुकूल ही हुआ है जिसका विवेचन शैलियों की विशेषताओं में दिया जा चुका है।

कला-तत्त्व एवं राजस्थानी चित्रकला

कला की सैद्धान्तिक पुस्तकों में रूपप्रद कला के मूलाधारों अर्थात् कला-तत्त्वों का विवेचन पौरवात्य एवं पाश्चात्य दृष्टि से विस्तार से हुआ है। मेरा लक्ष्य उनका पिष्ट-प्रेषण करना नहीं है, वरन् संक्षेप में उनके आधार पर राजस्थानी चित्रकला की विशिष्टताओं का संकेत करना है।

भारतीय शिल्पशास्त्रों में रूपभेद, प्रमाण, भाव, लावण्य-योजना, सादृश्य और वर्णिका भंग जैसे निर्दिष्ट 6 तत्त्वों का विस्तार से विवेचन हुआ है।[1] पाश्चात्य विद्धानों ने भी समय-समय पर रेखा (Line), रूप (Form), वर्ण (Colour), तान (Tone), पोत (Texture) तथा अन्तराल (Space) को ध्यान में रखकर पाश्चात्य और पौरवात्य चित्रकला का विश्लेषण किया है। राजस्थानी चित्रकला की भावभूमि और कला-पक्ष इतना समृद्ध है कि उसे चाहे किसी भी कोण से परखें, वह उपर्युक्त मानदण्डों पर खरी उतरती है।

राजस्थानी चित्रकला और रेखाँकन

चित्रकला में रेखाँकन मूलभूत आधार-तत्त्व है। चित्रकार जब अपनी कल्पना में मान-चित्र बनाता है तो सर्वप्रथम रेखाएँ ही उसके मानस पर उभरती हैं, फिर वह रेखाँकन कर अपनी कला को रूपायित करता है। इसीलिए रेखाँकन को चित्रकारी का आभूषण माना है।[2]

चित्रकला में रेखाँकन या लिखावट तीन प्रकार की मानी गयी है।[3] पत्र-वर्तना, आहैरिक वर्तना और बिन्दु वर्तना। पत्र सदृश्य रेखाओं को पत्र-वर्तना, अत्यंत सूक्ष्म रेखाओं को आहैरिक वर्तना और स्तम्भनयुक्त रेखाओं को बिन्दु-वर्तना कहते हैं। वैसे भी रेखाएँ स्वतंत्र रूप से अनेक प्रकार से खींची जा सकती हैं जिनका विशिष्ट दृष्टि से अलग-अलग प्रभाव पड़ता है। सीधी लम्बवत् (Vertical) रेखाएँ गौरव, शक्ति, स्थायित्व, शान्ति-प्रदायक होती हैं, तो सीधी पड़ी रेखाएँ (Horizontal) विश्राम, निश्चलता, शान्ति, मौन तथा संतुलन का आभास देती हैं। कर्णवत् रेखाएँ (Diagonals) गतिसूचक हैं, अतः नाटकीय, स्पंदन, उत्तेजना, व्याकुलता को अभिव्यक्त करती हैं। कोणीय रेखाएँ असुरक्षा, व्याकुलता,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

आघात तथा संघर्ष की सूचक हैं। चक्राकार रेखाएँ (Spirals) उत्तेजना-शक्ति, गति दर्शाती हैं तो प्रवाही रेखाएँ (Rhythms) गति, लावण्य, माधुर्य, लयात्मकता की सूचक होती हैं।[4]

यह प्रसन्नता और गौरव की बात है कि राजस्थानी चित्रकला में रेखाँकन का विस्तृत प्रयोग हुआ है। अजन्ता की कला की परम्परा को निभाने वाली राजस्थानी चित्रकला का रेखाँकन (रंगीन चित्र-1,5,14) भी अत्यधिक कौशलपूर्ण, लयात्मक और सधा हुआ है। घटनाओं का चित्रण, परिस्थिति, वातावरण तथा रूप का चित्रण रेखाओं की आकृति-मूलक संरचना के कारण राजस्थानी चित्रकला की विशेष देन है। ग्रंथ-चित्रण की परम्परा में कृष्ण-चरित्र को आधार बनाकर राजस्थानी चित्रकला के लगभग सभी स्कूलों में बहुलता से चित्रण हुआ है।[5] कृष्ण और राधा के अंग-प्रत्यंगों की लिखावट, उनकी वेशभूषा का बारीक अंकन, प्रकृति का सुरम्भ वातावरण, पशु-पक्षियों का चित्रण (रंगीन चित्र-1) आदि को चितेरों ने जिस कौशल से रेखाँकित किया है, वह आगे आने वाली पहाड़ी कला के लिए एक प्रकार से मानदण्ड बन गया।

राजस्थानी चित्रकला की विभिन्न शैलियों में केवल स्याही से खींची गयी ड्राइंग बहुलता से उपलब्ध है,[6] जिसके आधार पर राजस्थानी चित्रकला की रेखीय विशेषताओं का विस्तार से अध्ययन किया जा सकता है।

राजस्थानी चित्रकला की प्रारंभिक अपभ्रंश शैली और मेवाड़ स्कूल के चित्रों (श्वेत श्याम चित्र-1,2,3,4) में मोटी, लोककला से प्रभावित तथा जैन-शैली की भाँति लम्बवत् तथा सरल रेखाओं का बहुलता से प्रयोग हुआ।[7] भित्ति-चित्रण में तो बिना मोटी रेखाओं के काम ही नहीं चलता, इसलिए राजस्थान के प्राचीन भित्तिचित्रों जैसे मुगल गार्डन, बैराठ, मानसिंह की छतरी, आमेर तथा प्रदेश के अनेक मंदिरों के भित्ति-चित्रों में यह लोक-कलात्मक प्रभाव (रंगीन चित्र-14,20,21) देखा जा सकता है। 18वीं शताब्दी के भित्ति-चित्रों में बारीक, सधी हुई, अलंकरण से युक्त, आहैरिक वर्तना तथा कर्णवत्, चक्राकार (रंगीन चित्र-20) तथा प्रवाही रेखाओं का विस्तृत आह्लादकारी संसार विशेष दर्शनीय है।[8] यह शायद लघुचित्रों की समता में किया हुआ कार्य है, इसीलिए लघुचित्रों जैसी बारीक सधावट, मीनाकारी, पच्चीकारीयुक्त रेखाँकन इन भित्ति-चित्रों की निजी विशेषता बन गयी है।

बूँदी, किशनगढ़ शैली की चित्रकला अपने बारीक आहैरिक रेखाँकन के कारण जहाँ विशिष्ट बन गयी है, वहीं मुगल चित्रकला के अत्यधिक प्रभाव के कारण बीकानेर, जयपुर, अलवर आदि शैलियों में बिन्दु वर्तना अर्थात् परदाज़ (रंगीन चित्र-18) का काम देखते ही बनता है। उदयपुर-शैली, जोधपुर-शैली और बूँदी-शैली में पानी तथा बादल बनाने की प्रविधि में कलाकारों ने चक्राकार और प्रवाही रेखाओं का बड़े मनोयोग से प्रयोग किया है।[9]

राजस्थानी चित्रकला के चित्रण ने जब विशाल-क्षेत्र में व्यावसायिक स्थान ले लिया तो नाथद्वारा जैसी शैलियों में आगे चलकर रेखाओं की दुर्बलता, अस्पष्टता, झिलमिलता ने उसके रेखीय स्तर को ही गिरा दिया, क्योंकि इस प्रकार के चित्र शास्त्र की दृष्टि से भी दोषपूर्ण होते हैं।[10]

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राजस्थानी चित्रकला और रूप

कला-समीक्षकों और सौन्दर्य-शास्त्रियों ने रूप (Form) को कलाकृति में प्रवेश करने का सिंहद्वार माना है। रूप का कार्य विषयवस्तु के अर्थ को सामने लाना है।[11] जैसे ही रेखीय हलचल किसी भी पृष्ठभूमि पर होती है तो रूप की निर्मिति प्रारम्भ हो जाती है और धीरे-धीरे चित्र अपना आकार ग्रहण करने लगता है। चित्रकार रूप-सृजन करता है, वह मानस-चित्रों को चित्रतल पर दृश्य रूप प्रदान कर अपनी संवेदनाओं की अभिव्यक्ति करता है।

राजस्थानी चित्रकला के सभी स्कूलों की विभिन्न शैलियों में विषयवस्तु की विविधता के कारण रूप का असीम संसार बिखरा पड़ा है। इस विस्तृत भूभाग की ऐसी कौनसी जड़ या चेतन वस्तु है जिसका चित्रण यहाँ के चितारों ने नहीं किया। वीरता के प्रतीक पुरुष, लावण्य और त्याग की प्रतिमूर्ति नारी, अलग-अलग स्थानों पर पाये जाने वाले पशु-पक्षी, वनस्पति, जल-थल आदि का प्रदेशानुकूल अंकन यहाँ की अपनी विशिष्टता रही है।

मेवाड़ स्कूल में जहाँ ठिगने कद-काठी (रंगीन चित्र-11) के नर-नारियों का रूप रेखांकित है, वहीं बीकानेर, किशनगढ़ में लंबे, इकहरे कद के रूपाकार विशेष द्रष्टव्य हैं। बूँदी शैली (रंगीन चित्र-13) में गठे हुए बदन, ऊर्जायुक्त रेखांकन से निर्मित अंग-प्रत्यंग, गोलाकार लयात्मक राजसी ठाट-बाट से युक्त गवाक्ष और छतरियों का स्थापत्य, आलंकारिक सूक्ष्म एवं यथार्थ मनोहारी प्राकृतिक उपकरणों का रूपांकन भारतीय प्रतीकों जैसे, कमल, खंजन, मृग, नारियल, केले के गाछ, कमल-नाल, कनक-कलश, चकोर आदि के अनुकूल हुआ है।

नारी की देह-यष्टि रूप का खजाना है, इसलिए राजस्थानी चित्रकला के चितेरों ने अलग-अलग शैलियों में नारी-देह के रूपांकन में जो प्रयोग किए हैं, उसके कारण किशनगढ़, बूँदी शैलियाँ तो जगत प्रसिद्ध हो गयीं। किशनगढ़ शैली की राधा का तनवंगी कनक छड़ी जैसा रूप, तलवार जैसी पुतलियाँ, कमल-पंखुरी से विस्फारित नेत्र, कमल-नाल जैसी बाँहें, पुष्ट उरोज, क्षीणकटि आदि के अंकन में कलाकार ने जो तत्कालीन राजा सावंतसिंह अर्थात् नागरीदासजी की कलात्मक कल्पना को रूपायित किया है वह देखते ही बनता है। अलवर शैली की नायिकाओं की सुडौलता तथा लावण्य को चित्रकारों ने एक अनोखा आकर्षक रूप दिया है।[12] बीकानेर जयपुर और अलवर शैली पर मुगल प्रभाव अधिक रहा है, अतः इन शैलियों की नायिकाओं के अंकन में मुगल संस्कृति की नफासत परदाज़गिरी तथा दरबारी वैभव का प्रभाव (रंगीन चित्र-1823) अधिक रूपायित हुआ है।

उदयपुर, नाथद्वारा, सिरोही शैलियों में लोक-कला तथा पुष्टि-संप्रदाय का विशिष्ट प्रभाव होने के कारण गठीले पुष्ट अवयवों का रूपाकंन सहज भाव से हुआ है। नाथद्वारा शैली के नन्दबाबा, गोप-गोपियाँ तथा खाए-पीए पुजारियों, सेवकों, गाय, बछड़ों आदि का अंकन (रंगीन चित्र-4) इस कथ्य का साक्षी है।

चित्रों की पृष्ठभूमि के हिसाब से मेवाड़ में कदम्ब के वृक्ष, किशनगढ़ शैली में केले के गाछ, कोटा बूँदी शैली में खजूर के वृक्ष, जयपुर-अलवर में पीपल

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अथवा वट के वृक्ष अधिक रूपांकित हुए हैं । इसी तरह विभिन्न शैलियों में पशु-पक्षियों का रूपांकन भी परिवेश के अनुकूल ही हुआ है । जोधपुर, बीकानेर शैलियों में ऊँट, घोड़े, चील, कौवे तो उदयपुर में हाथी, चकोर, नाथद्वारा में गाय-बछड़े तथा कोटा-बूँदी में शेर, हिरण, बतख, सारस आदि का रूपांकन बड़े मनोयोग से हुआ है ।

राजस्थान के कलाकारों ने भौगोलिक परिस्थितियों के अनुकूल अपनी विशिष्टता के अनुसार जो रूपांकन किया है, उसी के कारण यहाँ की भिन्न शैलियाँ और उपशैलियाँ बन गयीं । रूप की निर्मिति ने इन शैलियों की निश्चय ही अलग पहचान कायम की है ।

राजस्थानी चित्रकला और वर्ण-संयोजन

चित्रकला के क्षेत्र में रंगों का महत्त्वपूर्ण स्थान है । विभिन्न रंगों के संयोजन और सुव्यस्थित प्रयोग से चित्रकला की भाषा तैयार होती है । चित्र में ऐन्द्रियता (सैन्सुवसनेस) का तीव्र अनुभव रंग-योजना के द्वारा ही होता है, क्योंकि रंगीन उपकरणों से सामान्य एवं रुचि-संपन्न दर्शक एक प्रकार के रोमांच का अनुभव करता है तथा यही रोमांच कला का सौन्दर्य-तत्त्व है । प्रकृति रंगों का खजाना है, इसलिए उसकी प्रतिकृति को कलाकार चित्र में रंगों से सजाता रहता है ।

भरत के नाट्यशास्त्र में स्वाभाविक चार रंग माने गये हैं, श्वेत, नीला, पीला और लाल ।[13] इनके मिश्रण से ही अनेक रंग बनते हैं । "चित्रसूत्रम्' अध्याय में प्रमुख पाँच रंगों की चर्चा है– श्वेत, पीत, पीलापन लिए श्वेत, काला और नीला ।[14] वैज्ञानिक दृष्टि से आधुनिक कलाकार प्रमुख तीन रंग मानते हैं– लाल, पीला और नीला ।[15] इन्हीं तीन रंगों के मिश्रण से अन्य रंग भी तैयार हो जाते हैं ।

प्रभावानुसार हम रंगों को दो भागों में विभाजित कर सकते हैं– उष्ण और शीत । सौर रंग सिद्धान्त के अनुसार सूर्य की किरणें जब कोणाकार शीशे में से छन कर निकलती हैं, तब क्रमशः लाल, नारंगी, पीला, हरा, नीला और बैंगनी रंग बनाती हैं । प्रथम तीन रंग सूर्य की गर्मी को अधिक छिटकाने वाले होने के कारण अत्यधिक चमकीले और उष्ण होते हैं तथा शेष तीन रंग शीत अर्थात् कम चमकीले और ठंडक पहुँचाने वाले होते हैं । मानवीय मानेविकारों एवं चित्रकला के मनोविज्ञान का अध्ययन उनकी रंग-प्रवृत्ति के आधार पर भी किया जा सकता है ।

वर्ण-संयोजन से चित्रकार चित्र को अधिक प्रभावोत्पादक और संवेदनशील बनाता है । यह वर्ण-संयोजन दो प्रकार का होता है :–

1. अनुरूप वर्ण-संयोजन (कॉम्बिनेशन ऑफ मैचिंग कलर्स) – मिलते हुए रंगों का प्रयोग जो सहज सौन्दर्य को प्रस्फुटित कर दे, उसे अनुरूप वर्ण-संयोजन कहते हैं । इसके लिए सौर रंग सिद्धान्त के क्रम को ध्यान में रखना होता है । जितना ही लाल, नारंगी, पीला, हरा, नीला और बैंगनी रंगों का क्रमिक संयोजन होगा, उतनी ही चित्र में वर्णों की अनुरूपता होगी ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

2. विरोधी वर्ण-संयोजन (कॉम्बिनेशन ऑफ कण्ट्रास्ट कलर्स)–कलाकार अपने चित्र में चमत्कार उत्पन्न करनें के लिए तथा अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए जहाँ विरोधी रंगों का क्रम रखता है, वहाँ उसे विरोधी वर्ण-संयोजन कहते हैं ।

चित्रकला में प्रमुखतः तीन क्रमागत स्थितियाँ लक्षित होती हैं– (1) सूचक (हैराल्डिक) (2) संयोजक (हारमोनिक) और (3) विशुद्ध (प्योर) । सूचक अवस्था का संबंध सीधे-सीधे प्राचीनतम रंगों से है । प्रागैतिहासिक काल की गुहाओं के गेरूई, सफेद, काले रंगों से लेकर लोक-कलात्मक लाल, पीले रंगों का सीधा प्रयोग सूचक अवस्था का द्योतक है । संयोजक अवस्था में परम्परा टूटने लगी और रंगों का संबंध 'टोन' से आबद्ध होकर 'हारमनी' की ओर अग्रसर हुआ । प्रकाश और छाया के संदर्भ में रंगों के क्रम और शेड्स को प्रमाणबद्ध करने वाली दृष्टि इस अवस्था में विकसित हुई ।[16] विशुद्ध रंग-नियोजन में छाया-प्रकाश की पद्धति न रहकर बिम्बों के रंग सीधे-सीधे प्रयुक्त किये जाते हैं । रंगों के माध्यम से ही इसमें रूप की रचना की जाती है ।

राजस्थानी चित्रकला की विभिन्न शैलियाँ रंग-संयोजन की दृष्टि से अत्यधिक रोमांचक एवं प्रभावशाली हैं । राजस्थान के अधिकतर भूभाग में मरुस्थल होने के कारण प्रकृति के रंगों की विस्तृत बहुलता नहीं है । शायद इसी कारण यहाँ की जीवन-शैली, वेशभूषा तथा चित्रकला में रंग भरकर यहाँ के वासियों ने इस कमी को पूर्ण किया हो ।

राजस्थानी चित्र-शैलियों में रंगों का जादुई संसार देखते ही बनता है । बूँदी (रंगीन चित्र-13) और किशनगढ़ शैली तो अपनी रंग-योजना की विविधता के कारण ही संसार प्रसिद्ध हो गयी है । सबसे प्रमुख बात यह है कि रंगों की शास्त्रीय-पद्धति और गरिमा जो राजस्थानी चित्रकला में उपलब्ध है, वह अन्यत्र कम ही देखने को मिलती है ।

सर्वाधिक पुराने भित्तिचित्रों जैसे मुगल गार्डन, बैराठ और मानसिंह की छतरी, आमेर के चित्रों में गुहा-चित्रों जैसी गेरूई, सफेद और काले रंगों की हैराल्डिक प्रवृत्ति विशेष उल्लेखनीय है ।[17] लोक-कलात्मक चित्रों में यह प्रवृत्ति आज भी माँडणों में देखी जा सकती है । मेवाड़ स्कूल के प्रारंभिक चित्रों में सूचक रंगों का प्रयोग बहुलता से हुआ है । साहित्यिक ग्रंथों को आधार बनाकर जो चित्र बने हैं, उनके ऊपरी भाग में पीली धरती (गऊगोली) पर काव्य के उस अंश (रंगीन चित्र-1) का लेखन करने की परम्परा रही है । उसमें मेवाड़ स्कूल की परम्परा को राजस्थानी-चित्रकला की अन्य शैलियों ने आगे तक निभाया । पीला, लाल, नीला आदि शुद्ध रंगों को मेवाड़ के इन चित्रों में सहज ढंग से लगाया है । यहाँ रंगों का घालमेल और मिलावट कम है । कमाल की बात यह है कि भक्तिकालीन हिन्दी-साहित्य में भी अधिकतर लोक-कलात्मक रंगों की सूंचक अवस्था का ही प्रयोग भक्त-कवियों ने अपनी बिम्ब-योजना में किया है ।[18] प्रारम्भिक राजस्थानी चित्रकला में इन मुख्य वर्णों (Primary Colours) की जहाँ प्रधानता है, वहीं 17वीं 18वीं शती के चित्रों में हिन्दी रीतिकालीन साहित्य की ही भाँति रंगों का संयोजन अर्थात् द्वितीय रंगतें (Secondary Colours) प्रभावशाली

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

होने लगीं। मुगलिया दरबारी संस्कृति से राजस्थान की रियासतों का दरबारी जीवन प्रभावित होने लगा, जिसके फलस्वरूप सामंती चमक-दमक, सुनहरी, साज-सज्जा, मणिकुट्टिम की पच्चीकारी, वेशभूषा और अलंकरण की दीप्ति के कारण प्रमुख रंगों के मेल-मिलाप से अनेक रंगतें चित्रकला में प्रयुक्त होने लगी।[19] बूँदी शैली[20], जयपुर शैली, अलवर शैली[21] (रंगीन चित्र-22) के चित्रों में रंगतें बहुलता से प्रयुक्त हुई हैं। किशनगढ़ शैली में तो दो और दो से अधिक रंगों के मिश्रण का खेल जादूभरा है। यहाँ के कलाकारों ने अधिकतर रंगत के मान (Value) का विशेष ध्यान रखते हुए श्वेत, गुलाबी, सलेटी, सिन्दूरी आदि का प्रयोग बहुलता से किया है। हाशिए (Boarder) में गुलाबी-हरे रंगों का बाहुल्य है।

विषय की अनुकूलता के आधार पर राजस्थानी चित्रकला के अनुरूप वर्ण-संयोजन तथा विरोधी वर्ण-संयोजन का खुलकर प्रयोग हुआ है। सर्वाधिक अनुरूप-वर्ण-संयोजन, किशनगढ़ शैली में उसके रंगों की कोमलता तथा हल्की रंगत के कारण हुआ है। दूर-दूर तक फैली हल्की सलेटी झील, झील में तैरते श्वेत हंस, बतख, सारस, वक, तैरती हुई गेरुई रंग की नौका और उसमें प्रेमालाप करते पारदर्शी कपड़ों से सुसज्जित राधा-कृष्ण तथा दूर हल्के श्वेत एवं गुलाबी रंग में पुते महल, अट्टालिकाएँ आदि अनुरूप वर्ण-संयोजन के अनुपम उदाहरण हैं।[22] इसी प्रकार अन्य शैलियों के 18वीं-19वीं शती के चित्रों में यह संयोजन बहुलता से देखा जा सकता है। स्त्री एवं पुरुष आकृतियों की वेशभूषा तथा अलंकरण में अनुरूप वर्ण-संयोजन का पूरा ध्यान रखा गया है। दामिनी-सी, दीपशिखा-सी, कनक लता-सी तथा चम्पकली-सी राधा के गौर-वर्ण के अनुकूल ही जरीकोर की चुन्नी, पीत-पाटम्बर, पीत चोली तथा स्वर्णिम वस्त्राभूषणों से उसे सुसज्जित किया गया है। कहीं हल्के लाल रंगों की आभा पूरे चित्र में प्रभावशाली हो गयी है। मेवाड़ शैली में चित्रों में यह लालिमा विशेष दर्शनीय है। राधा का गोरा रंग, बिम्बफल से अधर, गुलमुहरी रंगत से युक्त अमलतासी गात, ललाट पर रोली की बिन्दी, पाँवों में महावर, मुख में पान का बीड़ा और लाल साड़ी, लाल चोली, लाल लहँगा आदि से सुसज्जित अंग और इन सबके ऊपर रतनारे नयन अनुरूप वर्ण-योजना के अन्यतम उदाहरण हैं।[23] अलवर शैली के चित्रों में भी यह आभा प्रकृति-परिवेश सहित देखी जा सकती है।[24] अन्य शैलियों के चित्रों में भी कलाकारों ने अनुरूप वर्ण-संयोजन (मैचिंग कलर्स) का खुलकर प्रयोग किया है।

राजस्थानी चित्रकला की लगभग सभी शैलियों में विरोधी रंग-संयोजन का आकर्षक ढंग से प्रयोग हुआ है। रीतिकालीन साहित्य की भाँति राजस्थान के सामंती दरबारी जीवन में राधा-कृष्ण की शृंगारी लीलाओं का प्रभाव अधिक होने के कारण राजा-रानियों, नायक-नायिकाओं, राग-रागिनियों, उत्सव-त्यौहारों, जुलूसों, दरबारों आदि के चित्रण में विरोधी रंग-योजना (रंगीन चित्र-15,22) का खुलकर प्रयोग हुआ है। नायक को कृष्ण और नायिका को राधा के रूप में चित्रित करने की जो परम्परा चली, वह स्वयं विरोधी रंग-योजना की प्रतीक है। कृष्ण साँवले और राधा गोरी। दोनों जब गलबाँही (श्वेत श्याम चित्र-13.1) डालकर चलते हैं तो विरोधी रंगों की छटा खिल उठती है। राधा कनक लता और चम्पकली-सी है तो कृष्ण समुद्र, नीलकमल जैसे हैं। कृष्ण बादल हैं तो राधा बिजली। श्याम शरीर पर पीताम्बर तो गौर शरीर पर नीलाम्बर। इस प्रकार राजस्थानी चित्रकला में युगल छवि का चित्रण 18वीं शती और उसके बाद 'पोट्रेट पिक्चर' के प्रभाव के कारण बहुलता से हुआ है। इस दृष्टि से बूँदी,

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

किशनगढ़, जयपुर[25], अलवर शैलियों में यह रंग-योजना युगल- छवि के चित्रांकन में विशेष उल्लेखनीय है ।

जोधपुर शैली, बूँदी शैली, बीकानेर शैली, किशनगढ़ शैली (रंगीन चित्र-7) के स्थापत्य में महल-मालिए, बारहदरी, छतरियाँ, श्वेत रंग की हैं, तो उनकी आन्तरिक सज्जा में लाल, नीले, पीले रंगों के गलीचे और चिकें तथा पर्दे विरोधी रंग-संयोजन के हैं जिससे उनकी आभा द्विगुणित हो उठती है । प्रकृति-परिवेश में भी बूँदी-कोटा के कलाकारों ने विरोधी रंगों के आकर्षण को अपनी चरम सीमा तक पहुँचा दिया है ।

वर्ण-वैविध्य

राजस्थानी चित्रकला की कुछ शैलियों में तो इतना वर्ण-वैविध्य है कि उसे रंगों का त्यौहार या रंगों की होली की ही उपमा दी जा सकती है । रंगों का विशेष संबंध प्रकृति से है । प्रकृति के विराट रंगमंच परं रंग बिखरे पड़े हैं । पूर्वी राजस्थान में तो प्राकृतिक सघनता का आधिक्य है, अतः वर्ण-वैविध्य अलवर, बूँदी, कोटा, किशनगढ़ शैलियों में विशेष उल्लेखनीय है । यहाँ के कलाकारों ने सामंती रंग-रेलियों को राधा-कृष्ण के श्रृंगारी जीवन के माध्यम से अत्यधिक रंगीन बना दिया है । राग-रागिनियों में मेघमल्हार[26] हिंडौल, बसंत आदि के चित्रण में रंगोत्सव का ही रूप अंकित कर दिया है । श्रावण मास की प्रकृति का सतरंगा चित्रण, हरे-भरे पेड़, कजरारे बादल, सिन्दूरी आकाश, उड़ती हुई श्वेत बगुलों की पंक्तियाँ तथा 'कंचन के खम्भों पर रंग-बिरंगी डोरी का झूला और रंग-बिरंगे वस्त्राभूषण पहन कर 'हिन्डौला' (रंगीन चित्र-6,22) झूलते हुए श्यामा-श्याम का चित्रण, वर्ण-वैविध्य का अद्भूत चित्रण राजस्थानी चित्रकला की अपनी निजी विशेषता है । इसी प्रकार होली संबंधी चित्रों में विभिन्न रंगों, गुलाल, अंबीर, स्वर्ण-पिचकारी, स्वर्ण-कलश आदि का चित्राँकन (श्वेत श्याम चित्र-14) भी बहुलता से हुआ है ।[27]

किशनगढ़ शैली के चित्रों में वर्ण-वैविध्य जहाँ नागर और नागरी के वस्त्राभूषणों में मिलता है, वहीं प्रकृति-परिवेश तथा विशेषतः साँझी-लीला के अंकन में जादूभरा है ।[28] किशनगढ़ शैली की पाग के 'अलबेले पेचों के लपेटों' ने जहाँ राजस्थानी चित्रकला को मुगल प्रभाव से छुटकारा दिलाकर ठेठ राजपूती वेशभूषा से परिपूरित किया, वहीं साँझी लीला के चित्रण ने लोक-कलात्मक शैली को राजसी रंग में रंग दिया ।

राजस्थान के उत्सव, त्यौहार रंगीले होते हैं, इसलिए मध्यकालीन राजस्थान के राजसी जनजीवन (रंगीन चित्र-15) को तीज, दशहंरा, गणगौर की सवारी के समूह-चित्रों में तथा दीपावली-होली के त्यौहारों के अंकन में सहज ही परखा जा सकता है जिनमें रंगों का वैविध्य बिखरा पड़ा है ।[29] आज भी राजस्थानी चित्रकला के वर्ण-संयोजन पर विस्तृत शास्त्रीय शोध होने की परम आवश्यकता है ।

राजस्थानी चित्रकला और तान (Tone)

वर्ण-संयोजन और तान के चित्रण में चोली-दामन का साथ है । वर्ण-नियोजन से ही तान की विशिष्टता की जानकारी मिलती है । असल में रंगत

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

के गहरे या हल्के का संकेत ही तान कहलाती है । किसी भी वर्ण में सफेद या काले रंग की मात्रा के अन्तर से उसकी तान का अन्दाज कर सकते हैं, इसलिए तान किसी भी चित्र में प्रयुक्त वर्ण-संयोजन का मूलाधार है ।[30]

चित्र में छाया (Dark) से मध्यम (Middle First) और प्रकाश (Light) की ओर रंगों की बढ़त या घटत से चित्र की तान की पहचान सहजता से हो जाती है । चित्रकला में वर्णों की सूचक अवस्था में तान का प्रभाव बहुत कम देखने को मिलता है, जबकि संयोजन (हारमोनिक) अवस्था में परम्परा टूटने लगती है तथा रंगों का संबंध 'टोन' से आबद्ध होकर 'हारमनी' की ओर अग्रसर होता है । तान के प्रयोग से ही द्वि-आयामी तल पर त्रि-आयामी गुण उत्पन्न किया जा सकता है । यह ऐसा कला-तत्त्व है जिसके प्रयोग से चित्र की एकरसता को सरस और आकर्षक बनाया जा सकता है ।

राजस्थानी चित्रकला के प्रारम्भिक चित्रों में लोक-कलात्मक प्रभाव होने के कारण सीधे-सीधे सूचक रंगों का प्रयोग हुआ है जिसके फलस्वरूप तान का जादू नगण्य है । यही कारण है कि प्रारम्भिक मेवाड़ स्कूल के चित्रों में तथा बाद के ऐसे चित्रों में जिन पर मेवाड़ी प्रारम्भिक प्रभाव है; तान के कारण उत्पन्न सरसता तथा त्रि-आयामी प्रभाव बहुत कम देखने को मिलता है । छाया और प्रकाश का जादू भी कम है । जैन-कला में अकड़े हुए आसन, ठोस आकृतियाँ तथा परिप्रेक्ष्य (Perspective) का अभाव-ये सारे प्रभाव प्रारम्भिक राजस्थानी चित्रकला में भी आये हैं, जो तान की कमी को प्रदर्शित करते हैं । छाया और प्रकाश के अभाव में नैकट्य और दूरी को इन चित्रों में दिखाना असम्भव-सा रहा है ।

17वीं-18वीं शती और 19वीं शती के चित्रों में विकासात्मक रूप में रंगों का घालमेल होने के कारण सूचक अवस्था के स्थान पर संयोजक अवस्था विकसित हुई, जिसके फलस्वरूप छाया और प्रकाश तथा रंगत के गहरे हल्के का प्रयोग बहुलता से होने लगा । पारदर्शी कपड़े (रंगीन चित्र-12), झीनी झाँइयाँ, दूरी का परिप्रेक्ष्य आदि राजस्थानी चित्रकला की लगभग सभी शैलियों में देखने को मिलता है । बूँदी-शैली, नागौर शैली के चित्रों में यह पारदर्शिता विशेष उल्लेखनीय है ।[31] रागिनी मेघमल्हार में जहाँ रंगों का संयोजन देखते ही बनता है, वहीं नृत्य करते मेघ राग के कपड़ों की पारदर्शिता में श्वेतयुक्त हल्के नीले, हरे, लाल रंगों की झाँइयाँ राजस्थानी चित्रकला में तान की विशिष्टताओं को सहज ही उजागर करती हैं । इसी प्रकार बूँदी और जयपुर शैली से प्रभावित उणियारा उपशैली में रंगतों की तान का जादू भी देखते ही बनता है ।[32]

17वीं-18वीं शती में राजस्थानी चित्रकला के विभिन्न स्कूलों की शैलियों-उपशैलियों का उत्कर्ष काल रहा है । बहुलता से बने इन चित्रों में कला-तत्त्वों का समावेश अपनी नफ़ासत के कारण विभिन्न रंगतों के साथ उभर कर आया है, पर नाथद्वारा जैसी लोक-कलात्मक शैली में यह तान तत्त्व अपनी रूढ़ावस्था (रंगीन चित्र-4) में ही रहा है । 19वीं शती के चित्रों में फोटोग्राफी के तथा पाश्चात्य यथार्थवादी चित्रों के प्रभाव के कारण छाया और प्रकाश के परिप्रेक्ष्य को कलाकारों ने अधिक उभार कर रखा है जिसके फलस्वरूप त्रि-आयामी जादू

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

इन चित्रों में विशेष दर्शनीय है, पर राजस्थानी चित्रकला की पारम्परिक गरिमा और ठसक बाद के चित्रों में गायब होती चली गयी है ।

राजस्थानी चित्रकला और पोत (Texture)

किसी वस्तु के धरातल का गुण पोत कहलाता है । राजस्थानी चित्रकला में चित्रकारों ने भित्ति, कागज, कपड़ा, ताड़पत्र, हाथी दाँत, लकड़ी की पट्टिकाएँ आदि को चित्रण का आधार बनाया है, अतः उन माध्यमों के धरातलीय गुण का उन्होंने चित्र बनाते समय विशेष ध्यान रखा है । उसके गुण के अनुसार ही उन्होंने रंगामेजी कर समूचे धरातल की अनुभूति को पोत–निर्माण करके अभिव्यक्त किया है ।

राजस्थानी चित्रकला का विकास अजंता और एलौरा की भित्ति-चित्रण परम्परा में हुआ है, अतः राजस्थान में भित्ति-चित्रण के उदाहरण सर्वाधिक मिलते हैं । इस ठोस धरातल की निर्मिति की तकनीक विशिष्ठ रही है तथा चित्र-निर्माण का प्रारूप भी अन्य माध्यमों से अलग है; इसलिए भित्ति पर पोत कार्य अपना अलग अस्तित्व रखता है । निश्चय ही कपड़े और कागज पर जो टैक्सचर उभर कर आता है, वह अधिक कोमल, लालित्यपूर्ण एवं लचीला हो सकता है, इसलिए धरातल के गुण को उभारने के लिए सचित्र-ग्रंथ (रंगीन चित्र-23) एवं लघुचित्र निर्माताओं ने राजस्थानी चित्रकला में अपनी कारीगरी और बारीकी दिखाने की भरसक कोशिश की है । 17वीं, 18वीं और 19वीं शती मध्य तक इस दृष्टि से उन्होंने अनेक प्रयोंग किये हैं । मुगल संस्कृति के सम्पर्क के कारण राजस्थान की अधिकतर शैलियों में दरबारी, सामंती एवं विलासपरक (श्वेत श्याम चित्र-10.1) प्रवृत्तियाँ उभरकर आईं जिसके फलस्वरूप चित्रण-पद्धति में पर्शियन शैली के तत्त्वों का जमकर सम्मिश्रण हुआ है । यदि राजस्थानी लघुचित्रों का बारीकी से अध्ययन करें तो स्पष्ट होगा कि पोत (Texture) का प्रयोग अनुकृति के आधार पर होते हुए भी अलंकृत बन पड़ा है । यह अलंकरण पक्ष तथा त्रि-आयामी प्रभाव मुगल शैली के कलाकारों के सम्पर्क के कारण अधिक आया है । जयपुर, बीकानेर, अलवर शैलियों में इस संपर्क का प्रभाव अधिक द्रष्टव्य है ।

राजस्थानी चित्रकला और अन्तराल (Space)

प्राचीन भारतीय शिल्पशास्त्रों में अन्तराल के अनेक नामकरण दिये हैं । समरांगण-सूत्र में इसे 'भूमिबंधन' कहा गया है तो विष्णुधर्मोत्तर पुराण में इसे 'स्थान' की संज्ञा दी गयी है । अन्तराल चित्र का वह तत्त्व है जिसके अभाव में संयोजन असम्भव है । चित्रकार जिस आधार पर अंकन करता है, वह सपाट तथा द्विआयामी होता हैं । यह आधार सीमित होता है और कलाकार को उस सीमित स्थान में मनोनुकूल भावों को अभिव्यक्ति देनी होती है । इस दृष्टि से चित्रकार की सीमाओं के कारण उसका कार्य कठिन हो जाता है । वह उस आधार को अपने चित्रण हेतु इस प्रकार बाँटता है कि चित्रण संतुलित हो सके । इसी में कलाकार की कारीगरी और सूक्ष्म ज्ञान का परिचय मिलता है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अक्षत भूमि कलाकार की भावनाओं के लिए एक चुनौती है । उसमें असीम संभावनाएँ निहित होती हैं, किन्तु जैसे ही चित्रकार उस पर रेखांकन या बिन्दु अंकित करता है तो अन्तराल में क्रिया-प्रतिक्रिया तथा संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है । स्थान की यही बाँट-चूँट चित्रकला का रूप खड़ा करती है ।

भित्ति-चित्रण में जहाँ कैनवास लंबा-चौड़ा रहा है, वहीं लघुचित्रण में सिमटता चला गया, इसलिए 'भूमिबंधन' भी अधिक चुनौतीपूर्ण होता चला गया । रीतिकाल तक आते-आते तो अलंकरण और चमत्कार प्रदर्शन हेतु चावल, दाल के दाने और यहाँ तक कि बाल की खाल भी चित्रकार निकालने लगे, इसलिए 'स्थान' या 'आधार' पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण होने लगा ।[33] इस दृष्टि से भारतीय चित्रकला में 'भूमिबंधन' का इतिहास आश्चर्यजनक है ।

राजस्थानी चित्रकला में अन्तराल (Space) का विभाजन परम्परा के अनुसार ही हुआ है । भित्ति-चित्रण राजस्थान की पारंपरिक कला है, अतः मंदिरों, महलों, छतरियों में जो चित्रांकन मिलता है, उसमें भूमिबंधन, अजन्ता-एलौरा की अनुकूलता में ही मिलता है । शीशमहलों एवं चित्रसारियों की छत में रंग-बिरंगे शीशे जड़ने (श्वेत श्याम चित्र-11.2) की कला जहाँ पर्शियन प्रभाव के अनुकूल है[34] तो पशु-पक्षी, बेल-बूँटे, कमल-दल (रंगीन चित्र-13) आदि का चित्रण भारतीय परम्परा के अनुकूल ही है । छत की गर्दनों में उत्सवों की सवारियों के लंबे चित्रण या युद्ध के पैनल चित्रकारों ने बनाकर भूमि विभाजन का मनोनुकूल उपयोग किया है ।[35] 18वीं-19वीं शताब्दी में गर्दनों पर 36 राग-रागिनियों, दशावतारों, नायिकाभेद आदि के चित्रण लघु-चित्रण परम्परा के अनुसार हुए हैं ।[36]

चित्रकला की दीवारों को चित्रण हेतु कलाकारों ने इस प्रकार बाँटा है कि उनका सम्पूर्ण चित्रण प्रभावशाली एवं आसपास के वातावरण से सामंजस्य रखता हो । जहाँ दीवार पर बड़ा स्थान था, वहाँ समूह-चित्र जैसे राम-दरबार, राजतिलक, गोवर्धन-धारण, दशहरा-दरबार, महफिल, शिकार, कृष्ण-लीला आदि का अंकन बहुलता से किया । दीवानजी की हवेली; अलवर, शीशमहल, राजगढ़ किले के महल, (श्वेत श्याम चित्र-11.2) करौली, कोटा राजमहल, बूँदी की चित्रशाला, उणियारा के महल, उदयपुर के महल आदि इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय हैं । इन महलों के आलियों में व्यक्ति-चित्र तथा नीचे के पैनल में घोड़ों, हाथियों,[37] नायिकाओं[38] का अंकन कर स्पेस का वैज्ञानिक उपयोग देखते ही बनता है ।

हवेलियों एवं मंदिरों के चित्रांकन में बाह्य दीवारों के अन्तराल का भरपूर उपयोग शेखावाटी की हवेलियों, गलता के मंदिरों, शिशोदिया रानी, जयपुर के महल आदि में उदाहरणस्वरूप देखा जा सकता है । लंबी-चौड़ी दीवारों पर जन-जीवन का लोक-कलात्मक चित्रण एवं समय के परिवर्तन के साथ बदलते उपकरणों का चित्रण शेखावाटी की हवेलियों में विशेष द्रष्टव्य है । अन्तराल का इतना अच्छा और सामंजस्यपूर्ण विभाजन राजसी महलों में जहाँ गाम्भीर्य एवं सामंती प्रभाव से युक्त है, वहीं कस्बाती हवेलियों एवं मंदिरों में लोक-जीवन एवं धार्मिक-प्रवृत्ति, (रंगीन चित्र-21) अधिक प्रबल है ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

छतरियों के स्थापत्य की बनावट गुम्बदाकार है, अतः आन्तरिक गोलाई के अन्तराल की बाँट (रंगीन चित्र-20) में कलाकारों ने अपनी कल्पना का भरपूर उपयोग किया है। कहीं स्तंभों पर बेल-बूँटे बनाये हैं तो कहीं उसे आरायिश घुटाई से सुचिक्कण बना दिया है। छतरी के गुम्बद का भी अलग-अलग ढंग से उपयोग किया है। कहीं गोलाई को नीचे से ऊपर तक अठपहलू में बाँटकर उसमें समूह-चित्रों का अंकन किया है और कहीं पर्शियन शैली में खरबूजे की फाँकों (रंगीन चित्र-20) की तरह बाँट कर बेल-बूँटे अंकित किये गये हैं। नीचे के परिक्रम को कई हिस्सों में बाँट कर अनेक कथानकों के प्रसिद्ध दृश्यों को चित्राँकित करने की परम्परा रही है। आमेर में तथाकथित भारमल की छतरी (जो मानसिंह की छतरी है) में चालीस छोटे-छोटे चित्र हैं जिन्हें गेरू, रामरज, सफेदा, कालूस से सीधे पत्थर पर अंकित किया गया है। इन चित्रों में बराबर का भूमि-बंधन कर मत्स्य-अवतार, विष्णु-लक्ष्मी, नाग-दमन, टोड़ी-रागिनी, हंस पर आरूढ़ सरस्वती, मल्ल-युद्ध, लैला-मजनूँ, पशुओं की लड़ाई आदि का अंकन किया गया है। राजस्थान की अन्य छतरियों में इस स्थान का सर्वाधिक उपयोग कृष्ण की रासलीला के लिए किया गया है क्योंकि गोलाकार रासलीला के लिए छतरियों का यह 'स्थान' अत्यधिक उपयुक्त भी है।[39]

ग्रंथ-चित्रण एवं लघु-चित्रण में अन्तराल का उपयोग लगभग राजस्थानी चित्रकला की सभी शैलियों में परम्परानुसार एक जैसा हुआ है। ग्रंथ में लेखन के साथ-साथ बीच-बीच में उसे चित्रित भी किया है। कहीं चित्र पूरे पृष्ठ पर अंकित हैं तो कहीं बीच में या अगल-बगल में। सचित्र ग्रंथों की यह परम्परा राजस्थान में प्राचीन समय से ही उपलब्ध है, जो मुगल दरबार में सचित्र ग्रंथों के निर्माण के प्रभाव के कारण और अधिक प्रस्फुटित हो उठी। संस्कृत, हिन्दी, फारसी, उर्दू, राजस्थानी ग्रंथों का राजस्थान की लगभग सभी शैलियों में पूर्णरूप में और खण्ड-रूप में चित्रण उपलब्ध है। गीता, भागवत, रसिकप्रिया, बिहारी-सतसई आदि ग्रंथ विशेषतः पूर्णरूप में मिलते हैं। अपूर्ण या खण्ड-ग्रंथों में केवल रुचिकर एवं चित्रोपयोगी पदों को ही चित्रण का आधार बनाया है जो एल्बम के रूप में प्राप्त होते हैं। इनके फलकों का विभाजन कहीं-कहीं चमत्कारपूर्ण भी मिलता है। बीच में चित्रांकन और पन्ने के चौतरफी बॉर्डर बनाकर उसमें लेखन (श्वेत श्याम चित्र-5) के भी अनेक सुन्दर उदाहरण मिलते हैं।

राजस्थानी चित्रकला की विभिन्न शैलियों में लघु-चित्रण की परम्परा का विशाल भण्डार देशी-विदेशी, राजकीय एवं व्यक्तिगत संग्रहालयों में भरा पड़ा है। 18वीं शती तक के लघुचित्रों के फलक जहाँ सामान्यतः छोटे आकार में उपलब्ध होते हैं, वहीं 19वीं शती में बने चित्र कुछ बड़े आकार में भी मिलते हैं।[40] लघुचित्रों में संपूर्ण चित्र का सामंजस्य बैठाने के लिए चितारों ने फलक के अन्तराल को बड़ी सूझबूझ के साथ बाँटा है। बहुत से चित्रों में लगभग चौथे या पाँचवें ऊपरी भाग को पीली धरती से (गऊ गोली) रंगकर उसमें संबंधित पद (रंगीन चित्र-1) या शीर्षक काली स्याही से लिखा गया है। उसके नीचे बादल, आकाश, प्रकृति-परिवेश या महल-मालिए और पद के अनुकूल विषय का अंकन किया गया है। दृष्टिक्रम की दृष्टि से सबीहों को इस प्रकार अंकित किया गया है कि प्रमुख सबीह उभर सके। नीचे के भाग में नदी, ताल-तलैया, पशु-पक्षी या सज्जा के अन्य उपकरण अंकित करने की परम्परा रही है। बचे हुए स्थान में चारों

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

तरफ बॉर्डर की रचना प्रत्येक शैली की अपनी-अपनी विशेषता रही है । अनेक तरह से खत (रंगीन चित्र-22) खींचकर तथा फूल-पत्तियाँ बनाकर हाँशियों को विभिन्न तरीकों से अलंकृत किया गया है । 19वीं शती के चित्रों में तो हाशिए प्रमुख चित्र से भी अधिक प्रभावशाली बनने लग गये थे ।

राजस्थानी चित्रकला के अधिकतर लघुचित्रों में कथावस्तु के अनुरूप स्थान की रिक्तता, आकृति की बनावट, प्रकृति-परिवेश और पशु-पक्षियों का आलेख तथा रंगों का प्रयोग इस प्रकार किया गया है जिससे भूमि-बंधन की प्रक्रिया शास्त्रोक्त एवं विशाल दृष्टिकोण की द्योतक है । कहीं सशक्त रेखाँकन, कहीं आकृति-भार और कहीं रंगों के सामंजस्य द्वारा अन्तराल को सक्रिय बना दिया है और इस प्रकार चित्रकार के मानसचित्र चाक्षुष-चित्रों में युगों से बदलते चले गये हैं ।

राजस्थानी चित्रकला के लघुचित्र स्थिर, तीव्र-गत्यात्मक एवं मंद-गत्यात्मक श्रेणी में बाँट कर भी देखे जा सकते हैं । प्रारंभिक राजस्थानी चित्रों में अपभ्रंश एवं जैन-शैली का अधिक प्रभाव रहा, इसलिए उनमें एक ठोस अकड़ और स्थिरता अधिक झलकती है । इसी प्रकार बाद के व्यक्ति-चित्रों एवं सबीहों में फ़ोटोग्राफी के प्रभाव के कारण भी स्थिरता स्वाभाविक है । समूह-चित्रों जैसे युद्ध, आखेट, (रंगीन चित्र-8) उत्सव, सवारी, दरबारी, महफिलें, रागरंग आदि में गत्यात्मकता दर्शनीय है । कृष्ण-चरित्र संबंधी समूह-चित्रों में भी यह गति देखी जा सकती है ।

इस प्रकार राजस्थानी चित्रकला की विभिन्न शैलियाँ कलातत्त्वों के आधार पर खरी उतरती हैं । अजन्ता-एलौरा की परम्परा का निर्वाह करने वाली यह कला, कला के सिद्धान्तों के आधार पर होते हुए भी नये-नये प्रयोगों और पारस्परिक प्रभावों से कभी वंचित नहीं रही । राजस्थान की अधिकतर रियासतों के राजा मुगल दरबार में बड़े-बड़े पदों पर आसीन थे । उन्हें बड़ी-बड़ी मनसबदारियाँ प्राप्त थी, अतः उत्तर से लेकर दक्षिण तक और पूर्व से लेकर पश्चिमी भारत के कोने-कोने में वे युद्धों में जाते समय अपने कलाकारों को भी साथ ले जाते थे । वहाँ की परिस्थिति वेशभूषा, रहन-सहन तथा साँस्कृतिक अवदान से परिचित होने का उन्हें अवसर मिलता था, इसलिए सभी तरह के प्रभाव राजस्थानी चित्रकला में आना स्वाभाविक था । बूँदी शैली, बीकानेर शैली के अनेक चित्रों में दक्खनी शैली का प्रभाव उदाहरण-स्वरूप देखा जा सकता है ।[41]

संयोजन-सिद्धान्त और राजस्थानी चित्रकला

दो या दो से अधिक तत्त्वों के संयोग को संयोजन कहते हैं । रेखा, रंग, आकृति, तान आदि तत्त्वों की सुनियोजित अभिव्यक्ति कला को उत्कृष्ट एवं ललित बनाने में सहयोगी होती है । सहयोग, (Unity), सामंजस्य, (Harmony), संतुलन, (Balance), प्रभाविता, (Dominance), प्रवाह, (Rhythm), प्रमाण, (Proportion), आदि संतुलन एवं आकर्षण के ये सिद्धान्त कला-निर्मिति में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं ।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राजस्थानी चित्रकला उपर्युक्त सभी गुणों से युक्त है । दरबारी संस्कृति में केन्द्रबिन्दु राजा होता था, अतः सारी कलाएँ उसकी मनोवाँछाओं की प्रतीक होती थी । दरबारी संस्कृति में गुणीजनखानों, चितारों की ओवरी, सूरतखाना आदि का होना तथा कलाकारों का पारस्परिक प्रभावित होकर कला का सृजन करना संयोजन भावना का सबसे बड़ा उदाहरण है । काव्य को आधार बनाकर चित्रण करने की परम्परा राजस्थान में विशिष्ट रही है, अतः चित्रकार और कवि एक-दूसरे के पूरक रहे हैं । कुमार स्वामी का तो कथन ही है कि, "राजपूत चित्रकला तो भारतीय साहित्य की प्रतीक है"[42] क्योंकि कवि जो लिखता था, चित्रकार उसे अंकित करता था । इतना ही नहीं, अनेक बार चित्रकार जो अंकित करता था, उसे कवि की वाणी कविता में अनूदित करती थी ।[43]

चित्र-निर्माण में भी अनेक कलाकारों तथा परिवार के सदस्यों का समन्वित सहयोग होता था । वसली कोई तैयार करता था तो भूमिबंधन और रेखाँकन कोई करता था । रंगों की घुटाई अन्य लोग करते थे तो रंग की भराई किसी अन्य के जुम्मे होती थी । बॉर्डर या हाशिए बनाने की कला राजस्थान में अलग से विकसित थी । सचित्र ग्रंथों में लेखन या कैलीग्राफी (रंगीन चित्र-23) का कार्य दूसरे कलाकार करते थे । ग्रंथ की जिल्दसाजी अन्य माहिर कलाकारों की देन होती थी । हिन्दू-मुसलमान कलाकार मिलजुल कर चित्रकला की विशिष्टताओं को उजागर करते थे । ऐसे अनेक उदाहरण उदयपुर, जयपुर, बूँदी, बीकानेर, अलवर शैली में उपलब्ध होते हैं, जो तत्कालीन साँस्कृतिक समन्वय और भाईचारे के अन्यतम उदाहरण हैं ।[44]

सहयोग (Unity) एवं सामंजस्य (Harmony)

सहयोग का तात्पर्य चित्र में आकर्षण के बिखराव से बचना है । चित्र-संयोजन में सहयोग ऐसी कला है जो चित्र को एकसूत्र में पिरोये रहता है । चित्र में अनेक आकृतियाँ, अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा उद्दीपन के उपकरण भाव की अभिव्यक्ति में एकीकृत हो जाने पर ही श्रेष्ठ चित्र की निर्मिति संभव है । ऐसी स्थिति में ही चित्र सौन्दर्य-बोध की उत्कृष्टता प्राप्त कर दृष्टिक्रम के लिए लुभावना हो सकता है ।

राजस्थानी चित्रकला में आलंबन, अनुभाव तथा उद्दीपन के उपकरणों का चित्रण बहुलता से हुआ है, अतः आलंबन को केन्द्र मानकर संपूर्ण चित्र का संयोजन सामंजस्यपूर्ण हुआ है, चाहे आलंबन कृष्ण-राधा, अन्य देवी-देवता, महापुरुष, राजा आदि कोई भी हो, सारे चित्र का दृष्टिक्रम, उद्दीपन का अंकन आलंबन हेतु केन्द्रीभूत होने के कारण सहयोग गुण से परिपूर्ण है । कला के उपकरण रंग, रेखाएँ, आकृतियाँ, अलंकरण आदि सब में विशिष्ट सहयोग देखते ही बनता है । इसी सामंजस्य ने राजस्थानी चित्रों को सौन्दर्य-बोधात्मक और आकर्षक बना दिया है । बूँदी शैली और किशनगढ़ शैली में यह सहयोग एवं सामंजस्य विशेष द्रष्टव्य है ।[45] राजस्थानी चित्रकला की प्रारंभिक अवस्था में चित्रों में यह सहयोग भाव जितना ही सरल है, बाद के चित्रों में जटिल होता चला गया है । राजस्थानी चित्रकला में रूपाकृतियों का पारस्परिक संबंध इतना अधिक है कि चित्र का कोई भी उपकरण व्यर्थता का अहसास नहीं होने देता । आकारों के इसी संबंध को 'योजना' भी कहा गया है । चित्र में रंग, रेखा, पोत आदि का सामंजस्य बैठाने

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पर ही भाव-लावण्य उभर कर आ सकता है। राजस्थानी चित्रों में यह हारमनी देखते ही बनती है। 17वीं-18वीं शती के चित्रों में रंगों का सामंजस्य वैविध्य लिये होने के कारण चित्रों का पोत सूक्ष्म और पारदर्शी (रंगीन चित्र-12) होता चला गया है। यह विशेषतः कपड़ों की पारदर्शिता में देखा जा सकता है।[46]

संतुलन (Balance) एवं प्रभाविता (Dominance)

राजस्थानी चित्रकला में संतुलन एवं प्रभाविता का विशेष ध्यान रखा गया है। नायक या नायिका, आश्रय या आलंबन के प्रति पूरा चित्रण समर्पित होने के कारण केन्द्रबिन्दु की प्रभाविता को अधिक आकर्षक बनाया जाता रहा है। नायक कृष्ण हो या कोई राजा, नायिका राधा हो या कोई प्रेयसी, उसी के चारों ओर दृष्टिक्रम को इस प्रकार संतुलित किया गया है कि समग्र चित्र उभरकर आँखों को प्रभावित करने लगता है। बहुत से चित्रों में नायक या नायिका के सिर के पीछे प्रभामण्डल (रंगीन चित्र-3) बनाकर उसे और अधिक चमत्कारपूर्ण महत्त्वशाली बना दिया है।[47]

राजस्थानी चित्रकला के चाहे भित्तिचित्र हों या लघुचित्र, सब में दृष्टिभार (Visual Weight) का संतुलन देखते ही बनता है। फलक पर दौड़ती हुई रेखाएँ, बनती हुई लयात्मक आकृतियाँ, रंगों का संतुलित घालमेल, प्रकृति-परिवेश का विषयानुकूल उद्दीपक अंकन, पशु-पक्षियों की कुलाँचें, कल्लोल या विश्राँति की मुद्राएँ आदि अधिकतर इस प्रकार अंकित की जाती रही हैं जिससे प्रमुख विषय की प्रभाविष्णुता अधिक संतुलित होकर प्रभावशाली बन गयी है। रंग-बिरंगे खतों एवं हाँशियों के अलंकरण ने उसमें और अधिक खिलावट ला दी है।

अजन्ता की चित्रकला की भाँति नायक या नायिका की प्रभाविता को प्रदर्शित करने के लिये उसकी आकृति के 'प्रमाण' को बड़ा बनाकर अंकित (रंगीन चित्र-15) करने की प्रवृत्ति राजस्थानी चित्रकला में भी देखने को मिलती है। 'बोधिसत्त्व' की भाँति अनेक देवी-देवताओं या राजाओं की आकृति का बड़प्पन लघुचित्रों में द्रष्टव्य है। महापुरुष के महामानव रूप की कल्पना ने अजन्ता की चित्रकला से लेकर राजस्थानी चित्रकला के अंतिम चरण तक किन-किन रूपों में संतरण किया है यह शोध का विषय है।

प्रमाण (Propotion) तथा लयात्मकता (Rhythm)

भारतीय शिल्पशास्त्रों में मूर्तिकला तथा चित्रकला में मानव-आकृतियों के जो प्रमाण निश्चित किये हैं, वे सभी समय सर्वमान्य रहे हैं तथा प्रमाणहीन संरचना का विरोध किया है।[48] चित्र की संरचना में प्रमाण का संतुलन सौन्दर्य-बोध को उभारता है इसलिये प्रमाण याँत्रिक न होकर दृष्टि के लिये सौन्दर्य बोधात्मक होना अनिवार्य है। चित्रकला में और विशेषतः लघु चित्रकला में छोटे फोरमेट पर प्रमुख लक्ष्य को अभिव्यक्त करना होता है, इसलिये ऐसे प्रमाण निश्चित करना आवश्यक होता है जो अभिव्यक्ति के लिये सर्वथा उपयुक्त हो। प्रकृति के प्रत्येक जीव तथा निर्जीव में एक आनुपातिक संबंध है। भारतीय चित्रकला में इस शास्त्रीय संबंध पर विशेष ध्यान दिया गया है। आधुनिक चित्रकला के प्रमाण में जो परिवर्तन या विद्रूपीकरण किया गया है वह अलग चर्चा का विषय है।

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राजस्थानी चित्रकला में प्रमाण के शास्त्रीय सिद्धान्त का पूर्णरूप से ध्यान रखा गया है, किन्तु फिर भी अनेक शैलियों में प्रमाण की जो भिन्नता देखने को मिलती है, वह शैली की रूढ़ विशेषता भी हो गयी है। उदाहरणार्थ, बीकानेर शैली के चित्रों में नारी अंकन में कटि से पैरों तक का भाग प्रमाण से अधिक अंकित किया गया है। इसी प्रकार किशनगढ़ शैली की नायिकाओं के अंकन में भी कल्पनात्मक अतिशयोक्ति, बरती गयी है जिसके फलस्वलप शरीर के अंग-प्रत्यंगों की बनावट में प्रमाण की दृष्टि से ध्यानपूर्वक देखने पर कमियाँ गिनाई जा सकती हैं। बणीठणी के चित्रों में अतिशयोक्तिपूर्ण आँखों की लम्बाई, भवों की गोलाई, ठोड़ी और नाक का निकास तथा कलाई और कमर का पतलापन प्रमाण की दृष्टि से दोषपूर्ण माना जा सकता है। बाद के बने चित्रों में तो बणीठणी को चितारों ने विद्रूपता की हद तक अंकित किया है।

राजस्थानी के प्रारम्भिक चित्रों में जो अपभ्रंश शैली से प्रभावित हैं; में लोक-कलात्मक प्रभाव अधिक है। पर्दा.. या चौकी के पायों के अंकन में प्रमाण की दोषपूर्ण अन्विति सहज ही देखने को मिलती है। जैन शैली में सवा चश्म आँख की बनावट तो जैसे उसकी रूढ़ शैली ही बन गयी थी। 18वीं-19वीं शताब्दी के चित्रों में भी पेड़-पौधों के अंकन में प्रमाण की कमियाँ टटोली जा सकती हैं। किन्तु कुल मिलाकर भारतीय शिल्पशास्त्र और चित्रसूत्र में प्रमाण की प्रामाणिकता पर अत्यधिक बल दिया गया है जिसका राजस्थानी चित्रकारों ने विशेष ध्यान रखा है।

लयात्मकता (Rhythm) जीवन का अंग है। प्रकृति का प्रत्येक कण लय से अनुप्राणित है। मानव निर्मित रूपाकारों को लय ब्रह्माण्ड (Comic) से जोड़ती है। भारतीय जीवन-शैली छन्दोबद्ध अर्थात् लयात्मक रही है। यह लयात्मकता बाह्य से आन्तरिक होती चली गयी है। यही कारण है कि भारतीय कलाएँ अलौकिकता और आध्यात्मिकता के रंग में रंगी हुई हैं।

भारतीय चित्रकला में यह लहरदार गति आनन्दानुभूति प्रदान करती है। इस गति में रेखा, रूप, वर्ण, तान आदि सभी तत्त्व मिलकर जो रूपाकार खड़ा करते हैं, वे चित्रकला की अमर धरोहर हैं। राजस्थानी चित्रकला इस गत्यात्मकता और लयात्मकता से पूर्णरूपेण अनुप्राणित है। यहाँ की कला में लय या प्रवाह का तात्पर्य उस सहज क्रमिक गति से है जिसके सहारे दृष्टि रेखा, आकृति एवं वर्ण के किसी संयोजन में यात्रा करती है। राजस्थानी चित्रकला के उपलब्ध रेखा-चित्रों में यह गोलाकृत लय भली प्रकार से परखी जा सकती है।[49] राजस्थानी चित्रकारों ने चित्र में गति और लय उत्पन्न करने के लिये तथा ओज़, माधुर्य आदि गुणों की अभिव्यक्ति के लिये रेखाओं की चाल में गोलाकृत उतार-चढ़ाव तथा वर्णों के छाया-प्रकाश, घनत्त्व और विरलता आदि कौशल का भरपूर प्रयोग किया है। प्रेम और वात्सल्य तथा कारुणिक दृश्यों के अंकन में लयकारी अधिक प्रधान हो उठी है। बूँदी शैली के श्रृंगारी चित्रों में तथा नाथद्वारा शैली में गाय-बछड़ों (रंगीन चित्र-4) के चित्रण में रंग और रेखाओं की लयात्मक छवि देखते ही बनती है।

पेड़ और पौधों तथा पत्तियों की आवृत्ति में यह लयकारी राजस्थानी चित्रकला की अपनी निजी विशेषता रही है। गोलाकृत पेड़ बनाने की परम्परा मालवा तथा

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

पश्चिमी भारतीय शैली की अनुकूलता में मेवाड़ स्कूल तथा पाली के चित्रों में (रंगीन चित्र-1,5) देखी जा सकती है। फूल-पत्तियों की आवृत्ति, प्रकृति-परिवेश के निर्माण में ही नहीं वरन् वस्त्रों के छापों (रंगीन चित्र-11,18) में भी सर्वत्र देखी जा सकती है, जिससे चित्रण के सृजन-प्रवाह का सहज ही पता चलता है।

लंबी और घुमावदार रेखाओं का प्रवाह अजन्ता शैली की परम्परा में यहाँ भी सर्वाधिक चित्र-शैलियों में द्रष्टव्य है। मानव-आकृति, वृक्ष-लताएँ तथा हाथी, हिरण, मुर्गाबी आदि सशक्त प्रवाहयुक्त रेखाँकन के कारण लावण्यमय हो उठे हैं जिन्हें बूँदी, किशनगढ़, जोधपुर, बीकानेर शैलियों में विशेषतः देखा जा सकता है। बादल और जल के अंकन में शास्त्रीय पद्धति के अनुसार लयात्मक गोलाकृत (रंगीन चित्र-22) एवं लहरदार रेखाओं का प्रयोग अनेक शैलियों में अलग-अलग किया गया है। बूँदी शैली में लहरदार रेखाओं के माध्यम से पानी का अंकन देखते ही बनता है।[50] जोधपुर शैली में मानसिंह के समय में बने चित्रों में बादलों को गोलाकृत बनाकर लयात्मकता का पूर्ण परिचय दिया है। भित्ति-चित्रण में छतरियों और गुम्बदों के भीतरी अलंकरण में लयकारी कला की उत्कृष्टता को प्रदर्शित करती है। गलता की छतरियों का आंतरिक अलंकरण (रंगीन चित्र-20) इसका अच्छा उदाहरण है।

वास्तव में तो राजस्थानी चित्रकला भारतीय चित्रकला के संयोजन सिद्धान्तों के अनुकूल होने के कारण ही जगत प्रसिद्ध हुई है। सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से राजस्थानी चित्रकला का एक अलग स्वाद है जिसे शास्त्रीय संगीत की तरह पहले सामान्य समझ के आधार पर आत्मसात् करना पड़ेगा, तभी इसकी गहराई तक पहुँचकर इसका रसास्वादन किया जा सकता है।

सन्दर्भ

1. देखिए – कामसूत्र 1/3 की टीका, यशोधर पंडित – जयमंगला तथा विष्णु-धर्मोत्तर पुराण – चित्र-सूत्रम्
2. रेखा च वर्तनाचैव भूषणम् वर्णमेव च ।
   विज्ञेय मनुज श्रेष्ठ चित्रकर्मसु भूषणम् ॥ 10 ॥
   विष्णुधर्मोत्तर पुराण - चित्रसूत्रम् - 10/14
3. वही, 5-6/41
4. विस्तार से देखिए – डॉ. आर. ए. अग्रवाल : रूपप्रद कला के मूलाधार, पृ. 4-5
5. डॉ. जयसिंह नीरज : राजस्थानी चित्रकला और हिन्दी कृष्ण-काव्य - पृ. 114
6. देखिए – कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर के असंख्य लाइन ड्राइंग्स
7. देखिए – डॉ. जयसिंह नीरज : स्प्लैण्डर ऑफ राजस्थानी पेण्टिंग, फलक- 3
8. देखिए – पुण्डरीक की हवेली, जयपुर, राजगढ़ का शीशामहल, बूँदी की चित्रशाला, उदयपुर के महल, नागौर के किले के भित्तिचित्र
9. देखिए, डॉ. जयसिंह नीरज : स्प्लैण्डर ऑफ राजस्थानी पेण्टिंग – फलक 24, 25
10. दौर्बल्य बिन्दु रेखत्वम् विभक्त त्वमेव च ।
    मानवा कारता चैति चित्र दोषाः प्रकीर्तिताः ॥
    चित्रसूत्रम् - 8/41
11. निहार रंजनराय : भारतीय कला का अध्ययन, पृ. 115
12. देखिए, डॉ. जयसिंह नीरज : स्प्लैण्डर ऑफ राजस्थानी पेण्टिंग–फलक-39

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

13. भरत-नाट्यशास्त्र, अध्याय 21
14. मूल रंगाः स्मृताः पंच श्वेतः पीतो विलोमतः ।
    कृष्णो नीलश्च राजेन्द्र शतशोऽन्तरतः स्मृताः ॥
    विष्णुधर्मोत्तर – चित्रसूत्रम् 40/16
15. रामचन्द्र शुक्ल : चित्रकला का रसास्वादन, पृ. 84
16. देखिए, डॉ. श्याम परमार : हिन्दी काव्य में रंग-तत्त्व, आलोचना – 28 पृ. 45-46
17. देखिए - कार्ल खण्डालवाला : वाल पेण्टिंग फ्रॉम आमेर-फलक – 1 से 6
18. डॉ. जयसिंह नीरज : राजस्थानी चित्रकला और हिन्दी कृष्ण-काव्य, पृ. 148
19. देखिए, डॉ. त्रिभुवनसिंह : दरबारी संस्कृति और हिन्दी मुक्तक, पृ. 114
20. देखिए, डॉ. जयसिंह नीरज : स्प्लैण्डर ऑफ राजस्थानी पेंटिंग, फलक 23
21. देखिए, डॉ. जयसिंह नीरज : स्प्लैण्डर ऑफ राजस्थानी पेण्टिंग, फलक 38-39
22. देखिए, डॉ. जयसिंह नीरज़ : स्प्लैण्डर ऑफ राजेस्थानी पेंटिंग, फलक 21
23. देखिए, गोपीकृष्ण कानोडिया कलकत्ता के निजी संग्रह के सूरसागर संबंधी चित्र एवं राजकीय संग्रहालय, उदय्पुर और कुमार संग्राम सिंह संग्रहालय, जयपुर के कृष्ण-लीला संबंधी चित्र
24. डॉ. जयसिंह नीरज : स्प्लैण्डर ऑफ राजस्थानी पेंटिंग, फलक-39
25. डॉ. जयसिंह नीरज : स्प्लैण्डर ऑफ राजस्थानी पेंटिंग, फलक-34
26. देखिए, डॉ. जयसिंह नीरज : स्प्लैण्डर ऑफ राजस्थानी पेंटिंग, फलक-23
27. देखिए, डॉ. जयसिंह नीरज : स्प्लैण्डर ऑफ राजस्थानी पेंटिंग - फलक–37 तथा डॉ. मोतीचन्द्र : मेवाड़ पेण्टिंग, फलक 3
28. देखिए, एरिक डिकिन्सन : किशनगढ़ पेण्टिंग, फलक 1, 3, 9, 12
29. देखिए, डॉ. जयसिंह नीरज : स्प्लैण्डर ऑफ राजस्थानी पेण्टिंग – फलक 9, 14, 29,41
30. डॉ. आर. ए. अग्रवाल : रूपप्रद कला के मूलाधार, पृ. 25
31. देखिए, डॉ. जयसिंह नीरज : स्प्लैण्डर ऑफ राजस्थानी पेंटिंग, फलक – 23, 24
32. वही, फलक-41
33. देखिए, राजकीय संग्रहालय, अलवर में चावल और दाल पर अंकित चित्र
34. देखिए, आमेर का शीशमहल, राजगढ़ का शीशमहल आदि
35. देखिए, चित्रशाला बूँदी एवं शेखावाटी की अनेक हवेलियाँ
36. देखिए, दीवान जी की हवेली, अलवर एवं उणियारा के महल
37. देखिए, चित्रशाला, बूँदी
38. देखिए, शीशमहल, राजगढ़, अलवर
39. देखिए, शेखावाटी की अनेक छतरियाँ
40. देखिए, कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर के कोटा, सावर शैली के चित्र
41. देखिए - डॉ. प्रमोद चन्द्र : बूँदी पेण्टिंग
42. राजपूत पेंटिंग, खण्ड – 1, पृ. 2
43. राय कृष्णदास : भारत कला भवन का सूची-पत्र (निवेदन से)
44. देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ, अलवर शैली
45. डॉ. प्रमोदचन्द्र : बूँदी पेण्टिंग, एवं श्री एरिक डिकिन्सन :- किशनगढ़ पेण्टिंग के अनेक फलक
46. देखिए, डॉ. जयसिंह नीरज : स्प्लैण्डर ऑफ राजस्थानी पेंटिंग, फलक 20, 23, 41
47. वही, फलक–7, 29, 31, 33
48. प्रमाणहीनां प्रतिमा तथा लक्षण वर्जिताम् ।
    विष्णुधर्मोत्तर पुराण, अ. 38
49. देखिए, कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय की सैकड़ों ड्राइंग्स
50. देखिए, डॉ. जयसिंह नीरज : स्प्लैण्डर ऑफ राजस्थान पेण्टिंग, फलक - 23, 24, 25.

❑

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

9

उपसंहार

भारतीय चित्रकला में राजस्थानी चित्रकला का अपना निजी ऐतिहासिक स्थान है। वह जिस परम्परा से उद्‌घाटित और विकसित हुई है, वह भारत की प्राचीन समय से चली आ रही चित्रण-परम्परा है। उसमें चित्रकला के प्रारम्भिक और समय-समय पर विकसित मानदण्ड खोजे जा सकते हैं। यह बात दूसरी है कि अपने समय की अन्य देशी-विदेशी कला का प्रभाव भी वह निःसंकोच ग्रहण करती रही है।

राजस्थानी चित्रकला का संविधान

16वीं शती से 19वीं शती तक मेवाड़ स्कूल, मारवाड़-स्कूल, हाडौती स्कूल तथा ढूँढ़ाड़ स्कूल की विभिन्न शैलियों और उप-शैलियों और ठिकाणा कला में विकसित राजस्थानी चित्रकला निश्चय ही भारतीय चित्रकला की प्रमुख दाय है। अनेक समकक्ष स्कूलों और शैलियों से प्रभावित होते हुए भी राजस्थानी चित्रकला के संविधान को भली प्रकार पहचाना जा सकता है जिसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं :-

1. लोक-जीवन का सान्निध्य–भित्ति-चित्रण की परम्परा में विकसित राजस्थानी चित्रकला का लोक-जीवन से विशेष सान्निध्य रहा है। प्रारम्भिक चित्रण में सादगी और सरलता तथा रंगों की अल्हड़ता और विषय-वस्तु के चुनाव में लोक-जीवन की भावनाओं का बाहुल्य विशेषतया मिलता है। दरबारी संस्कृति में परिपोषित चित्रकला से भी यह लोक-तत्त्व विलग नहीं हुआ है। धार्मिक और सांस्कृतिक स्थलों में पोषित चित्रकला जन-जीवन की भावनाओं तथा लोकप्रिय विषयों से अधिक सम्बन्धित रही है।

2. भाव-प्रवणता का प्राचुर्य–राजस्थानी चित्रकला रस-प्रधान हैं। भावनाओं का मनोवैज्ञानिक चित्रांकन इसमें विशेष रूप से हुआ है। राधाकृष्ण की माधुर्य-भावना का विस्तृत और गहनतम चित्रण इस चित्रकला की प्रमुख विशेषता है। भक्ति और शृंगार का सजीव चित्रण राजस्थानी चित्रकला में विशेष देखने को मिलता है।

3. विषय-वैविध्य– राजस्थानी चित्रकला विषय की दृष्टि से अत्यधिक विस्तृत है। राधा-कृष्ण की विभिन्न लीलाओं, रामकथा, महाभारत और भागवत की विभिन्न कथाएँ, नायक-नायिका-भेद, राग-रागिनी, बारहमासा, ऋतु-वर्णन, दरबारी जीवन, उत्सव, शिकार, राजा-रानियों का चित्राँकन, लोक-कथाएँ आदि अनेक विषयों में

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राजस्थानी चित्रकला का परिपोषण हुआ है । काव्य का चित्रण इस शैली की अपनी निजी विशेषता है ।

4. **वर्ण-वैविध्य**–राजस्थानी चित्रकला में रंगों का जादू विशेष उल्लेखनीय है । लाल, पीला, श्वेत और हरा इस शैली के प्रमुख रंग हैं जिनके समन्वय से कलाकारों ने चित्रण को रंगीन बना दिया है । चटकीले, चमकदार और दीप्तियुक्त रंगों का संयोजन शैली में अपना निजी रूप रखता है ।

5. **देशकाल की अनुरूपता**–राजपूती सभ्यता और संस्कृति का तथा तत्कालीन परिस्थितियों का जीता-जागता चित्रण राजस्थानी चित्रकला में देखने को मिलता है । दुर्ग, प्रासाद, मंदिर, हवेलियाँ, दरबार आदि का राजपूती वैभव चित्रकला में बारीकी के साथ चित्रित किया गया है । भक्तिकाल और रीतिकाल का सजीव चित्रंण तो विशेष रूप से हुआ है ।

6. **प्रकृति परिवेश**– राजस्थानी चित्रकला में प्रकृति के विराट परिवेश का बहुरंगा चित्रण हुआ है । कमलों से पूरित सरोवर, काले मेघों से आच्छन्न आकाश में सर्पाकार विद्युत रेखाएँ, वन-उपवन, पेड़-पौधे, फूल-पत्तियों से भरे निकुंज, मृग, मयूर, सिंह, हाथी, घोड़े, हिरण, ऊँट आदि का सुन्दर चित्राँकन राजस्थानी चित्रकला की अपनी विशेषता है ।

इतर समकक्ष शैलियों से तुलना

राजस्थानी चित्रकला के समकक्ष तुलनात्मक दृष्टि से दो शैलियाँ आती हैं– (1) मुगल; और (2) पहाड़ी । दोनों से ही तुलनात्मक विश्लेषण करने पर निष्कर्ष निकलता है कि राजस्थानी चित्रकला का इतर समकक्ष शैलियों में पारस्परिक आदान-प्रदान और प्रभाव होने के बावजूद भी मौलिक स्थान रहा है ।

राजस्थानी और मुगल शैली

इन दोनों शैलियों का निर्माण एवं विकास प्रायः एक ही समय हुआ, इसलिए राजनीतिक प्रभाव के कारण पारस्परिक कलात्मक आदान-प्रदान स्वाभाविक ही है, किन्तु दोनों शैलियों की अपनी मौलिक भिन्नताएँ हैं । मुगल-शैली का आधार ईरानी और राजस्थानी शैली का भारतीय है । विषय की दृष्टि से मुगल-शैली राजा और सामन्ती प्रभाव से आक्रान्त और राजस्थानी शैली लोक-जीवन की सरलता से प्रभावित है । मुगल-शैली यथार्थवादी है तो राजस्थानी शैली अधिक कल्पना-प्रचुर है । मुगल-शैली का उद्भवं लघुचित्रों से और राजस्थानी-शैली का भित्ति-चित्रों से हुआ है । एक दरबारी वैभव से आच्छादित है तो दूसरी धार्मिक, भक्ति और श्रृंगारी भावों से ओतप्रोत । एक में राज-दरबार, राज-परिवार, युद्ध और उत्सवों के अंकन का बाहुल्य है, तो दूसरी में ग्रामीण जन-जीवन, कवित्वमय प्रेम, कल्पनाओं, धार्मिक भावनाओं तथा राधाकृष्ण की श्रृंगारपरक लीलाओं का मादक चित्रण है । एक फारसी काव्य और मुगल इतिहास का विवरण प्रस्तुत करने वाली है, तो दूसरी संस्कृत-हिन्दी काव्यों के गूढ़ ग्रन्थों को अभिव्यक्ति देने वाली । राजस्थानी शैली की रंग-योजना और अलंकरण-सज्जा भी मुगल-शैली से भिन्न है । एक की रंग-योजना में वैविध्य है, तो दूसरी में समरसता । राजस्थानी शैली में आदर्श हिन्दू-जीवन की पौराणिक परम्परा और राजपूती वीरता तथा संस्कृति का समावेश है तो मुगल शैली में मुस्लिम संस्कृति का प्राचुर्य । एक में भारतीय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

प्रतीकों (जैसे कमल, हंस, मोर आदि) का विशेष अंकन है, तो दूसरी में सरों के पेड़, बाज, ऊँट आदि चित्रांकन प्रमुख है ।

दोनों शैलियों की तुलनात्मक समीक्षा करने पर भिन्नता के साथ ही उनमें समता का भाव भी लक्षित होता है । 16वीं शती के मध्य से ही मुगलों के प्रभाव और दबाव के कारण राजस्थान में मुस्लिम संस्कृति के बीज फैलने लगे थे और 17वीं शती के प्रारम्भ तक तो पूर्ण राजस्थान मुगल प्रभाव से आक्रान्त हो गया था । समूचे राजस्थान पर मुगल साम्राज्य की सर्वोपरि सत्ता की स्थापना के कारण यहाँ के साहित्य, कला और संस्कृति पर भी विशेष प्रभाव पड़ा है । राजसी वैवाहिक सम्बन्धों के कारण एक-दूसरी कला में जो पारस्परिक आदान-प्रदान हुआ है, वह शैलियों में द्रष्टव्य है । राजसी वैभव, शृंगार-भावना, भोग-विलास, वेशभूषा, रेखाँकन, रंग-योजना आदि में मुगल प्रभाव दर्शनीय है ।

राजस्थानी शैली और पहाड़ी शैली

जम्मू, गढ़वाल, कुल्लू, चम्बा, बसौली, काँगड़ा, गुलेर, मण्डी आदि पहाड़ी प्रान्तों में परिपोषित चित्रकला पहाड़ी शैली के नाम से विख्यात है । 18वीं शती में विकसित पहाड़ी शैली राजस्थानी शैली की ही अमर धरोहर है । मुगल कला के ह्रास के कारण पहाड़ी राजपूत राज्यों में मुगल दरबार से विच्छिन्न कलाकारों ने आश्रय लिया । वहाँ के वातावरण के प्रभाव में जो चित्र बने, उनमें पहाड़ी चित्रकला की विवृत्ति हुई । पहाड़ी चित्रकला ने भावांकन एवं कलांकन की दृष्टि से अपनी पूर्ववर्ती राजस्थानी शैली का अनुगमन किया । राधा-कृष्ण की विभिन्न लीलाओं को आधार बनाकर पहाड़ी शैली में विशेष अंकन हुआ । भागवत पुराण, गीतगोविन्द, सूर-सागर, रसिकप्रिया, बिहारी सतसई आदि ग्रंथों एवं नायिकाभेद, रागरागिनी आदि के आधार पर बने चित्र काँगड़ा, बसौली आदि शैलियों की प्रमुख धरोहर हैं । बसौली शैली के चित्रों में मेवाड़ की भाँति रंगों की सूचक अवस्था एवं लोककला की प्रधानता मिलती है ।

पहाड़ी चित्रकला में भावाभिव्यंजकता, रंगों और रेखाओं की लयात्मकता तथा विषयवस्तु की विविधता काँगड़ा शैली में अनोखी है । कला के उत्कर्ष की दृष्टि से राजा संसारचन्द्र (1775-1823) का योगदान उल्लेखनीय है । तूलिका की सुदृढ़ता, रंगों की संयोजकता, रेखाओं की लयात्मकता, नर-नारियों की आकृतियों की मोहकता, सतरंगा, प्राकृतिक-चित्रण, पशु-पक्षियों की विविधता तथा अनुभवों की अभिव्यंजकता के लिए काँगड़ा शैली अधिक प्रसिद्ध है । बूँदी शैली और किशनगढ़ शैली का सतरंगापन एवं लावण्य काँगड़ा शैली में विशेष देखने को मिलता है । राजस्थानी और पहाड़ी चित्रकला की यह समता भारतीय चित्रकला की परम्परा की ही दो कड़ियाँ हैं ।

कहने का तात्पर्य यह है कि राजस्थानी चित्रकला एवं इतर पूर्ववर्ती एवं परवर्ती अन्य भारतीय चित्रशैलियों पर एक-दूसरे का इतना पारस्परिक प्रभाव रहा है कि उसे विलग कर पाना कठिन है । संस्कृति एवं कला की धारा इसी प्रकार पारस्परिक प्रभाव ग्रहण कर आगे बढ़ती रही है ।

❑

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

संदर्भ ग्रंथ

हिन्दी

1. कृष्ण बिहारी मिश्र : मतिराम ग्रंथावली
2. डॉ. गोपीनाथ शर्मा : राजस्थान का सांस्कृतिक इतिहास
3. गौरीचन्द हीराचन्द ओझा : बीकानेर राज्य का इतिहास
4. गौरीचन्द हीराचन्द्र ओझा : उदयपुर राज्य का इतिहास
5. जयशंकर प्रसाद : काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध
6. डॉ. जगदीश गुप्त : भारतीय कला के पद-चिह्न
7. डॉ. जयसिंह नीरज : राजस्थानी चित्रकला और हिन्दी कृष्ण-काव्य
8. डॉ. जयसिंह नीरज एवं डॉ. बी. एल. शर्मा : राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा
9. डॉ. जयसिंह नीरज : विनय : अलवर-अंक
10. जगन्नाथ प्रसाद रत्नाकर : बिहारी-रत्नाकर
11. डॉ. नगेन्द्र : अरस्तू का काव्य-शास्त्र
12. ना. चि. मेहता : भारतीय चित्रकला
13. डॉ. प्रेमचन्द्र गोस्वामी : राजस्थान की लघुचित्र- शैलियाँ
14. डॉ. फैयाज अली : नागरीदास ग्रन्थावली
15. डॉ. रघुवीरसिंह : पूर्व आधुनिक राजस्थान
16. राधाकमल मुखर्जी : भारतीय चित्रकला का विकास
17. राधावल्लभ सोमानी : महाराणा कुम्भा
18. डॉ. आर. के. वशिष्ठ : मेवाड़ की चित्रांकन परम्परा
19. रामगोपाल विजयवर्गीय : राजस्थान की चित्रकला
20. डॉ. रामानन्द तिवारी : साहित्य-कला
21. रामकृष्णदास : भारत की चित्रकला
22. वटुकनाथ शर्मा : नाट्यशास्त्र
23. वासुदेवशरण अग्रवाल : कला और संस्कृति
24. वाचस्पति गैरोला : भारत की चित्रकला
25. विश्वनाथ प्रसाद : पद्माकर का जगद्विनोद
26. श्यामलदास कविराज : वीर विनोद
27. डॉ. सुमहेन्द्र : राजस्थानी रागमाला : चित्र-परम्परा
28. डॉ. आर. ए. अग्रवाल : रूपप्रद कला के मूलाधार
29. विश्वेश्वरनाथ रेऊ : मारवाड़ का इतिहास
30. अवनिन्द्रनाथ ठाकुर : भारतीय शिल्प के षड़ंग
31. भारतीय कला की कहानी : विद्यासागर उपाध्याय

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

अंग्रेजी

1. Agrawal R. A. : Marwar Murals
2. Agarwal R. A. : Art and Architecture of Jaisalmer
3. Archer W.G. : Indian Miniature
4. Archer W. G. : The loves of Krishna in Indian Painting and Poetry.
5. Archer W. G : Central Indian Painting.
6. Archer W. G : Indian Painting in Bundi and Kota
7. Archer W. G : Indian Paintings from Rajasthan
8. Brown Percy : The Heritage of India-Indian Painting.
9. B. Bozake : History of Aesthetics.
10. Brijraj Singh : The Kingdom that was Kotah.
11. Bhargava V. S. : The Rise of the Kachhawas.
12. Coomara Swamy A.K. : Rajput Painting.
13. Croche : Aesthetics.
14. Ebeling Klaus : Ragmala Painting.
15. Eric Dickinson and Khandalwala : Kishangarh Painting.
16. Francis Waczlar and Amarnath : Rajasthan : The Painted walls of Shekhawati.
17. Ganguli O.C. : Master Rieces of Rajput Painting
18. Ganguli O.C. : Critical Catalogue of Miniature Paintings in the Baroda Museum
19. Gray Basil : Rajput Painting.
20. Goetz Hermann : Art and Architecture of Bikaner
21. Herbert Read : The meaning of Art.
22. James Tod : The Annals and Antiquities of Rajasthan.
23. Khandalwala and Moti Chandra : Miniature Painting in collection of Moti Chandra Khazanchi.
24. Khandalwala : Wall Paintings from Amer.
25. Krishna Chaitanya : A History of Indian Painting-Rajasthani Traditions.
26. Mehta N.C. : The Golden Flute.
27. Mehta N.C. : Studies in Indian Painting.
28. Moti Chandra : Mewar Painting.
29. Moti Chandra : Jain Miniature Painting from Western India.
30. Moti Chandra : The Technique of Mughal Painting.
31. Neeraj Jai Singh : Splendour of Rajasthan Painting
32. Pramod Chandra : Bundi Painting.
33. Scot James : The Making of Literature.
34. Shrivastava V. S. : Cultural Contours of India.
35. Sarabhai Manilal : The Oldest Rajasthani Paintings from Jain Bhandars.
36. Sharma M.L. : History of Jaipur State.

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

37. Sherman Lee : Rajput Painting.
38. Dr. Sumahendra : Miniature Painting Technique.
39. Tolstoy : What is Art ?
40. Yuri Bozerev : Aesthetics.
41. Andhare Shridhar : Devgarh Painting
42. Andhare Shridhar : Mewar Painting
43. Robert Skelton : Rajasthan Tample Hanging of Krishana-cult.
44. Robert Skelton : Indian Miniature
45. Pratapditya Pal : The Classical Tradition in Rajput Painting

पत्र-पत्रिकाएँ

हिन्दी

1. सम्मेलन पत्रिका – कला-अंक, इलाहाबाद
2. कलानिधि, बनारस
3. वार्षिकी, 63, ललितकला अकादमी, जयपुर
4. विजय वल्लभ स्मारक-ग्रंथ, बम्बई
5. शोध-पत्रिका, शोध-संस्थान, उदयपुर
6. आकृति–ललितकला अकादमी, जयपुर
7. राजस्थान भारती, बीकानेर
8. मरु-भारती, पिलानी
9. परम्परा-चोपासनी शोध-संस्थान, जोधपुर
10. वरदा, बिसाऊ
11. नादनिनाद श्री – कलकत्ता
12. कला त्रैमासिकी – लखनऊ

अंग्रेजी

1. Journal of Indian Society of Oriental Art, Vol. XIX.
2. Marg-Rajasthani Painiting, Vol XI N. 2, Bombay.
3. Bulletin of Prince of Wales Museum, Bombay.
4. Catalogue of Indian Collections in the Museum of Fine Arts, Boston, America.
5. Rooplekha, New Delhi.
6. Lalit Kala, New Delhi.
7. Baroda Museum Bulletin, Baroda.
8. Western Railway Annual (1953), Bombay.
9. The Researcher, A Bulletin of Rajasthani Archaeology and Museums.
10. Catalogue of Sanskrit and Prakrit MSS of Jaisalmer Collections.
11. Annual Report of Archaeological Deptt: of--
His Highness the Nizam.
12. The Times of India--Annual, Bombay.
13. Kala Vrita, Jaipur.
14. The India Magzine, New Delhi
15. Bombay Art Society Art General, Bombay.

□

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

नामानुक्रमणिका

(अ)
अकबरनामा-50
अजमेर शैली-49
अर्थूना-14
अन्तर्वेद-9
अनुरूप वर्ण योजना-101
अनूपसिंह-42
अम्बिकेश्वर महादेव-95
अम्बावती नगरी-75
अर्बुद-मंडल-59
अर्जुन महल-70
अपभ्रंश शैली-19, 22, 27, 99
अरस्तू-2
अलनिया-10
अत्तीमारा-10
अलवर शैली-85, 86, 87
(आ)
आंचलिया आदेश्वर मंदिर-53
आदि पुराण-76
आनन्द कुमार स्वामी-19
आमेर शैली-75
आभानेरी-13
आयसजी देवनाथ-40
आहड़-11, 12, 14, 16, 28
(उ)
उणियारा शैली-
उत्तराध्ययन सूत्र-38
उदयपुर शैली-27
उपदेश प्रकरण वृत्ति-16
उस्ता परिवार-43, 44, 45
(ए)
एकलिंगजी-14
एकचश्म-35
एरिक डिकिन्सन-45
(ओ)
ओध निर्युक्ति वृत्ति-15, 16
ओसियाँ-14, 37
(क)
कन्नौज-14
कल्पसूत्र-16
कर्नल-टॉड-20
करोली चित्रकला-94, 95
कवालजी-14
कविप्रिया-29, 30, 65
कश्मीर शैली-20
कामसूत्र-3
कार्ल खण्डालवाला-20, 23
कालीबंगा-11
काष्ठ पट्टियाँ-15, 16
किशनगढ़ शैली-45, 46
कुंभा-21, 26, 61
कुम्भ स्वामी-14
कुम्भमेरु-14
कुमार संग्रामसिंह-23, 34, 49, 71
कुमारपाल-16
कुवलयमाला कहा-15
कुषाणकाल-10, 12
केशोरायपाटन-14
कैकींद-14
कोटा शैली-67
क्रोचे-2
कंसुआ-14, 16
(ख)
खतरगच्छ-16
खानजादा-86
(ग)
गणेश्वर-11, 82
गलता-81

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

गान्धार-13
गिलूंड-11, 12
गीतगोविन्द-17, 26, 27, 29, 30, 40, 47
गीतगोविन्द आख्यायिका-26
गुर्जर प्रतिहार-13, 15, 37
गुर्जरत्रा-14, 15
गुजरात शैली-19, 21, 27
गुप्तकाल-13
गुहिल तेजसिंह-16, 26
गोगूंदा-17
गोपीकृष्ण कानोड़िया-28, 29, 69

(च)

चन्द्रावती-53, 54
चाकदार जामा-77
चावंड-25, 28
चाँद कलाकार-63
चित्रशाला (बूँदी)-63
चित्रसूत्रम्-5
चितारों की ओवरी-28
चोखेलाव-35
चौबीसियाँ-53
चौर-पंचाशिका-27, 28, 42

(छ)

छत्रशाल-63
छतरगच्छ-14

(ज)

जगत-14
जगतसिंह (उदयपुर)-26, 28
जगद्-विनोद-80
जयपुर शैली-78
जयदेव-26
जनुअल आबदीन-21
जालिमसिंह झाला-68, 70, 73
जिनभद्र सूरिज्ञान भण्डार-56
जिनदत्त सूरी-16
जैसलमेर शैली-56
जोधपुर शैली-38
जोधपुरा-12
जैन शैली-21, 54, 56

(झ)

झालरापाटन-73
झालावाड़ शैली-72

(ड)

डब्ल्यू. जी. ऑर्चर-20, 58
डी. जी. गैयर एण्डरसन-67

(ढ)

ढूँढ़ाड़ स्कूल-75
ढोलामारू-27, 38, 65

(त)

ताड़-पत्र-15, 56
तारानाथ-15, 37
ताम्रयुगीन संस्कृति-9, 12

(द)

दक्खिनी शैली-52
दस वैकालिक सूत्र-चूर्णि-15, 16
दर्रा-10
द्रष्यद्वती-11
द्वारिकाधीशजी-32
दाना भाटी-40, 41
द्वि-आयामी-6
दुर्गा-शप्तशती-40, 54
देवकुल पाठक-17
देवी महात्म्य-40, 54
देवगढ़ शैली-52

(न)

नगरी-11, 12
नगर-12
नरलाई-14
नसीरदीन-28, 42
नागदा-4, 16
नागरीदास-46, 48, 100
नागौर शैली-52
नाडौल-14
नाथद्वारा शैली-30, 31, 32, 100
नाट्य-शास्त्र-1
नाथ-सम्प्रदाय-37, 40
नाँद-12
निहालचन्द-46, 47
नोह-12

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(प)
प्लेटो-2
पटवों की हवेली-56, 57
पहाड़ी स्कूल-117
पद्माकर-80
प्रमोद चंद्र-21
पाण्डव चरित्र-17
प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर-40
पिछवाई-32, 33
पीलीबंगा-12
पुण्डरीक की हवेली-81
पुष्टि-संप्रदाय-29, 30, 32, 33, 95, 100
पंचशतक प्रकरण-वृत्ति-16

(फ)
फ्रायड-2
फैयाज़ अली-45

(ब)
बनास-12
बणीठणी-46
बलदेव-87
बालगोपाल स्तुति-17
बालमुकुन्द-86
बाड़ौली-14, 61
बिहारी सतसई-65, 78
बीकाजी-41
बीकानेर शैली-41, 44
बुचकला-13
बूँदी शैली-61
बेड़च-12
बेसिलग्रे-19
बैराठ-11
बंगालीरागिनी-20
बंद बारैठ-10

(भ)
भद्रबाहु स्वामी-16
भ्रमरगीत सार-29, 69, 76
भागवत-27, 29, 38, 42
भीकमजी-17, 26
भीनमाल-14
भीम-बेटका-10
भूर्जपत्र-15

(म)
मण्डौर-13, 37
मरु-कान्तार-9
महामारु शैली-13
महमूद बेगड़ा-21
मिहिर भोज-14
मुकन्दरा-10, 13
मुगल स्कूल-116
मेदपाट-20, 25
मोकलका मंदिर-16
मोती चन्द्र-20, 23
मौर्य काल-12
मंजूलाल रणछोड़लाल मजूमदार-27
मनोहर-29
मथेरण-43, 44
मथुरेशजी-68, 72
मानसिंह (जोधपुर)-40, 113
मानसिंह (जयपुर)-76, 77
मालवदेव-38
माधवानल कामकंदला-42
मुगल गार्डन, बैराठ-77, 102
मेहरानगढ़-40
मोकल-16, 26
मोरध्वज निहालचन्द-46
मौज़माबाद-76, 77

(य)
यजदानी-21
यशोधर चरित्र-76
यक्ष संस्कृति-12

(र)
रघुवीरसिंह-42
रज्जबनामा-76
रसराज-40, 61, 63
रसिकप्रिया-28, 29, 39, 40, 42, 63
राजौरगढ़-13
रामगोपाल विजयवर्गीय-21
रावत नाहरसिंह-34
रामकृष्ण दास-19, 20
राष्ट्रकूट-37
रूपप्रद कला-5, 6
रंग महल-12, 13
रंगामेजी-6

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

(ल)
लकुलीश मंदिर-19
ललितललाम-61
ललितविस्तर-3
लाट प्रदेश-9
लालगढ़ पैलेस-44

(व)
वर्ण-चित्र-102
विष्णु धर्मोत्तर पुराण-4
विरोधी वर्ण-संयोजन-102
विराटनगर-10, 12, 13
वाचस्पति गैरोला-20
विल्हण-27
वल्लभ-संप्रदाय-31, 46, 48
वीरजी-39
विट्ठलदास चाँपावत-39
विमल प्रबंध-54
विक्टोरिया एंड एलबर्ट म्यूजियम-67
वल्लभोत्सव-चंद्रिका-71
विनयसिंह-87, 88
वर्ण-संयोजन-101

(श)
शैलाश्रय-10
शीतलेश्वर महादेव-13, 73
श्रृंगधर-15, 37
श्रीनाथजी-29, 30, 37, 73
श्रीधर अंधारे-34
शाहपुरा उपशैली-34
शोध–संस्थान, चोपासनी-40
शेखावाटी शैली-82, 83

(ष)
षड़ंग-5

(स)
साँचौर-9
सरस्वती नदी-10, 11
सुनारी-12
सादड़ी-14
समराइच्छ कहा-15
सपादलक्ष-16
सिद्धराज जयसिंह-16
सवाचश्म-16
समद्धेश्वर महादेव-16
सावगपडिकमण सुत्त चुन्नी-16
सुपासनाह चरियम-17
सत्य प्रकाश-10
साहिबदीन-28, 29
सूर सागर-29, 30, 39
सावर-31
सीहाड़-32
सावंतसिंह-46
सूरध्वज मूलराज-46
सिरोही शैली-53
सारणेश्वर महादेव-58
सवाई जयसिंह-78
शिशोदिया रानी का बाग-78
साहिबराम-79
संसारचन्द्र-117

(ह)
हीगेल-2
हाबर्टरीड-2
हर्षनाथ-14
हरमैन गोइट्ज-20
हिस्सामुद्दीन उस्ता-45
हाड़ौती स्कूल-61

(त्र)
त्रि-आयामी-3

(ज्ञ)
ज्ञानार्णव-17

□ □ □

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्र 1 : अथ नीरस लक्षण : रसिकप्रिया प्रारम्भिक राजस्थानी

(प्रिन्स ऑफ वेल्स म्यूजियम बम्बई के सौजन्य से)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

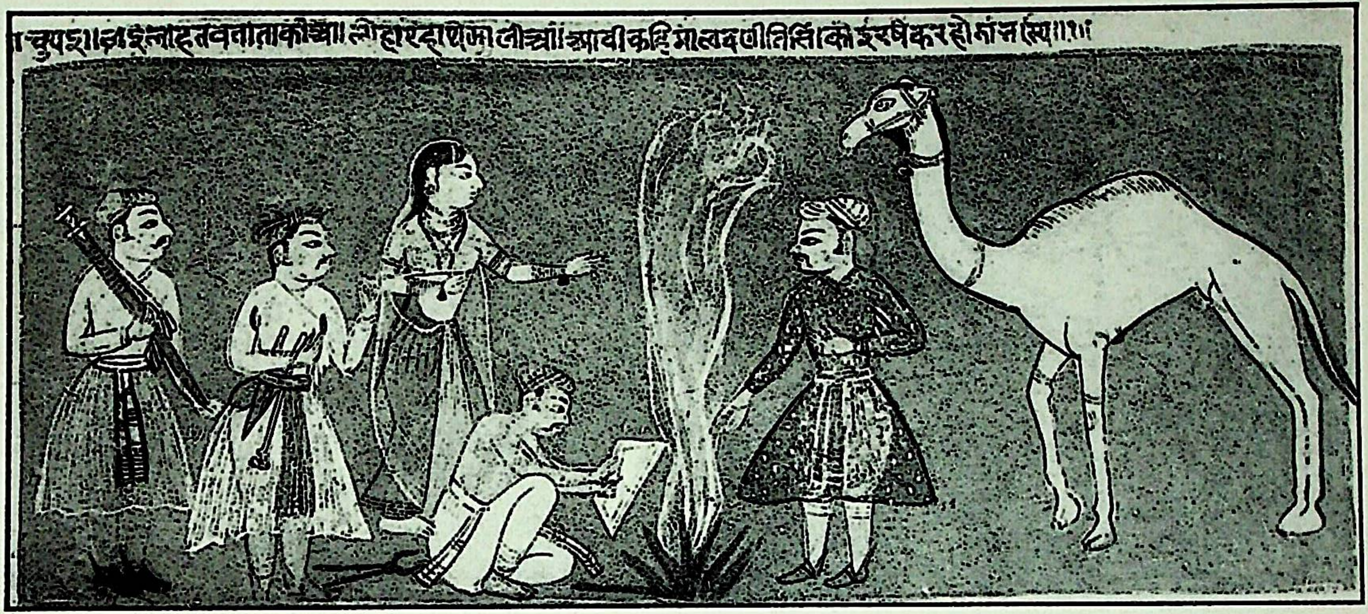

चित्र 2 : ढ़ोला-मारू री चौपाई : मेवाड़ स्कूल लगभग 1592
(राष्ट्रीय संग्रहालय, नयी दिल्ली)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

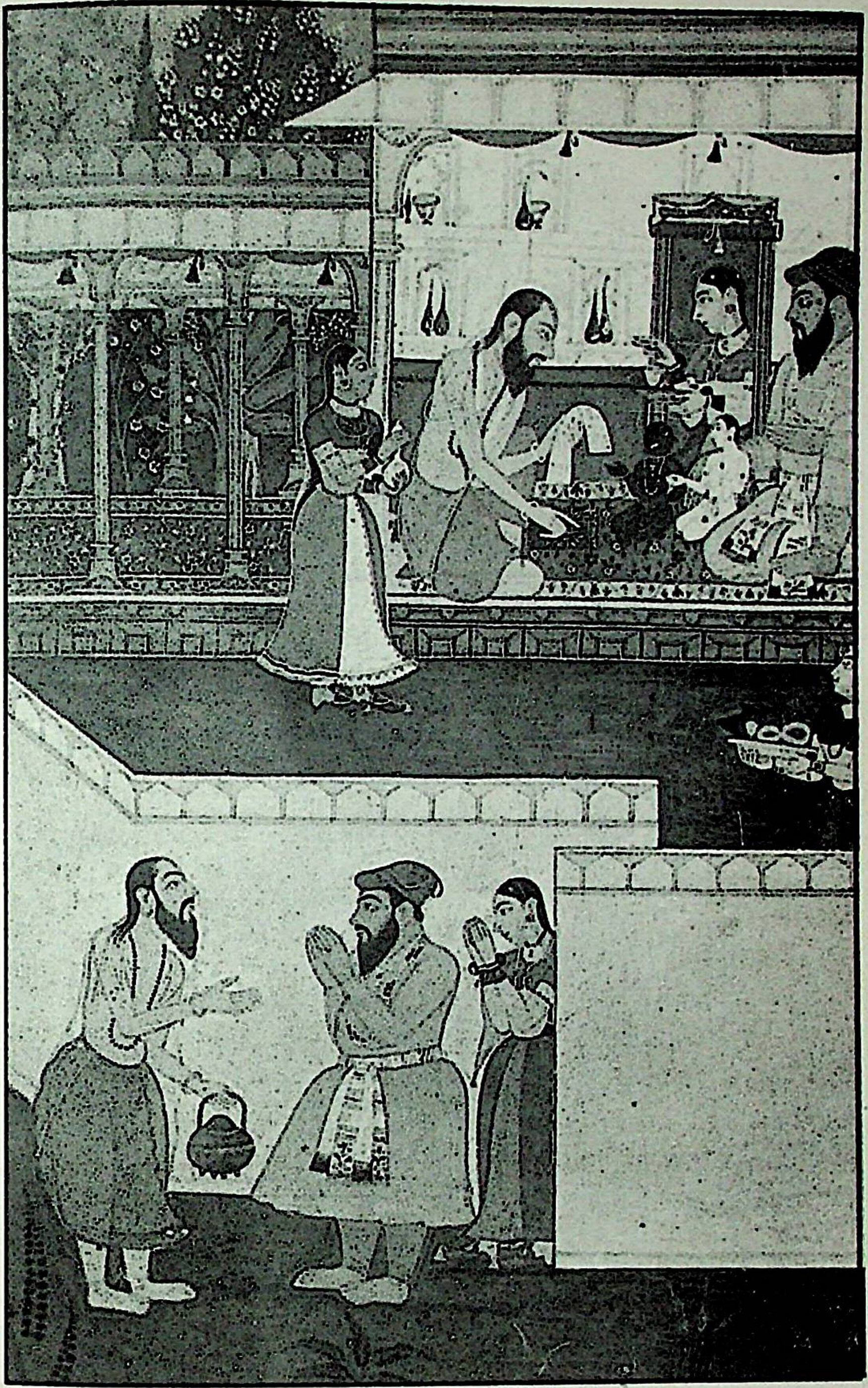

चित्र 3 : नामकरण संस्कार : मेवाड़ स्कूल जहाँगीरकालीन
(राजकीय संग्रहालय, कोटा)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्र 4 : कृष्ण का मथुरा गमन : मेवाड़ स्कूल 17वीं शती मध्य
(राजकीय संग्रहालय, दिल्ली के सौजन्य से)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

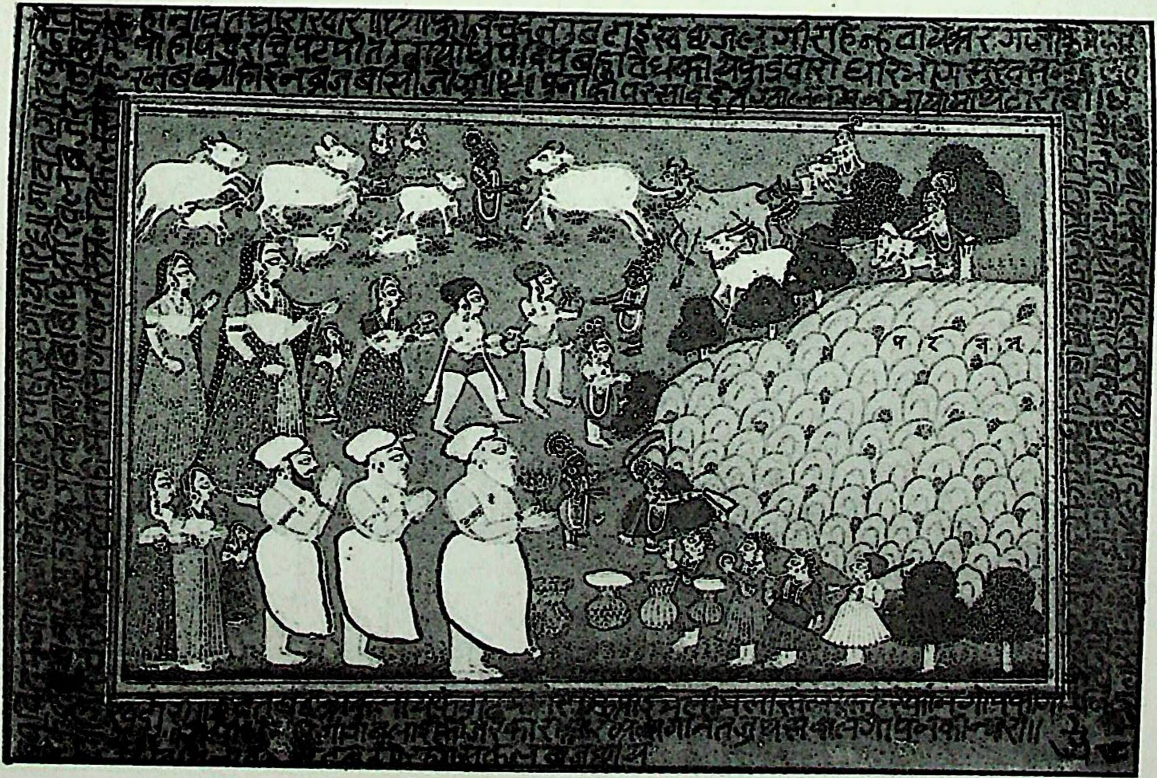

चित्र 5 : गोवर्धन-पूजा : मारवाड़ स्कूल, 18वीं शती अन्तिम
(पिक्चर एण्ड आर्ट गैलेरी, बड़ौदा के सौजन्य से)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

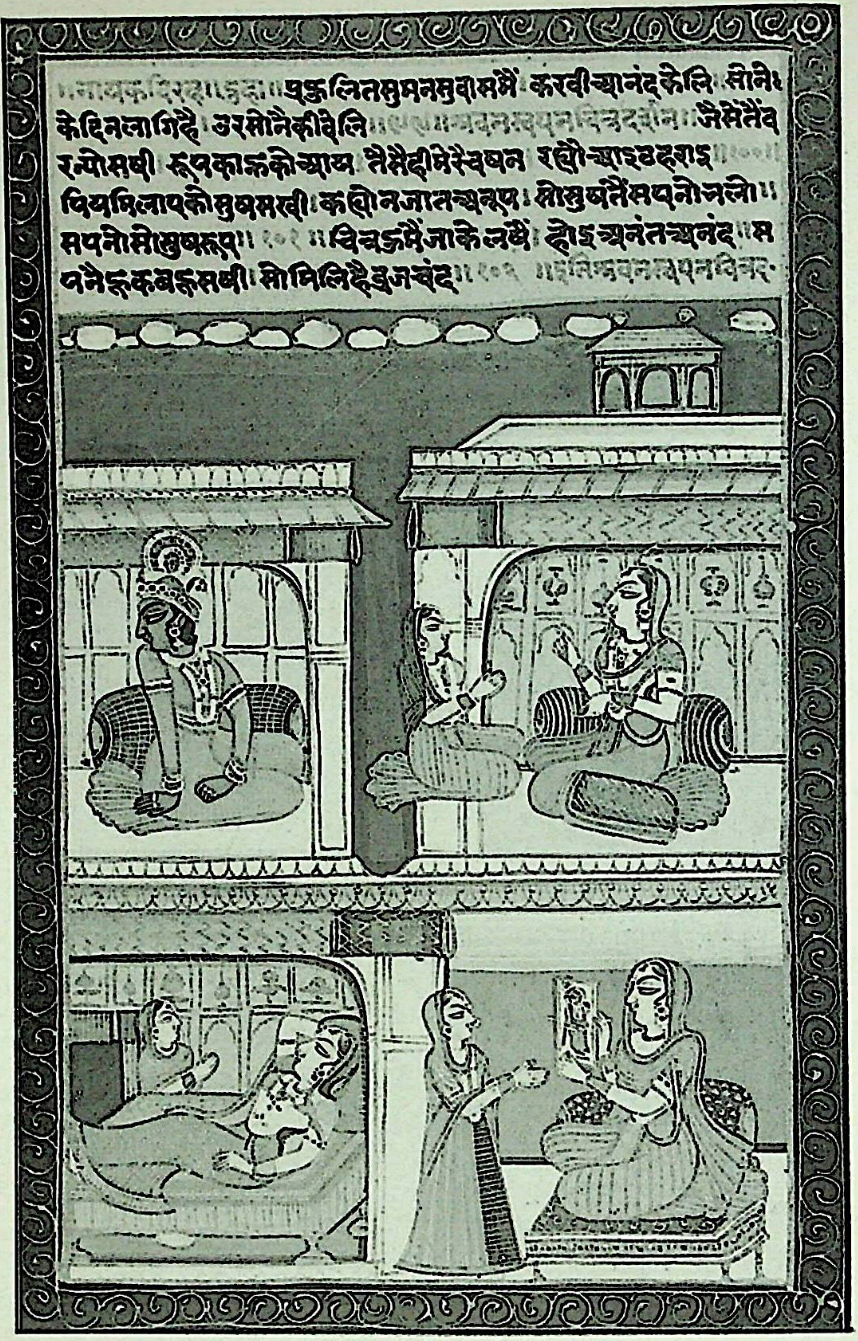

चित्र 6 : दर्शन भेद : रसराज, जोधपुर शैली : 19वीं शती प्रारम्भ
(राजकीय संग्रहालय, जयपुर के सौजन्य से)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्र 7 : जुलूस : नागौर शैली, 14वीं शती मध्य
(नागौर किले का भित्ती चित्र)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

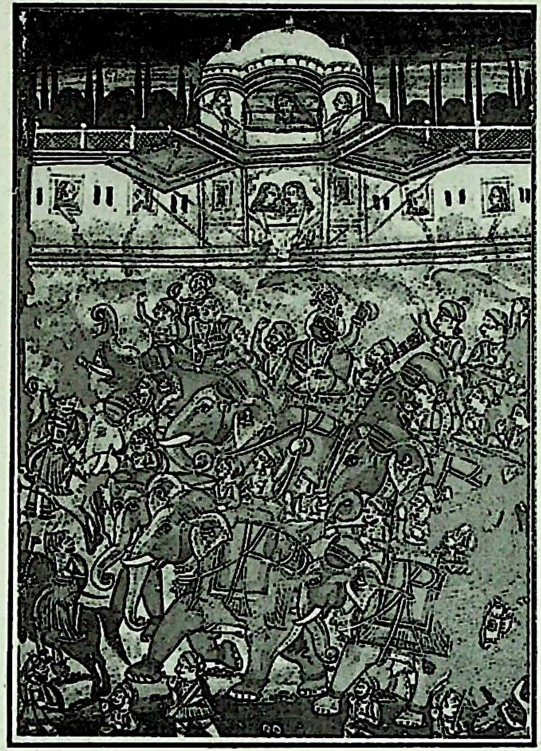

चित्र 8.1 : कृष्ण और बलराम : होली खेलते हुए : बूँदी शैली, 18वीं शती, निजी संग्रह से

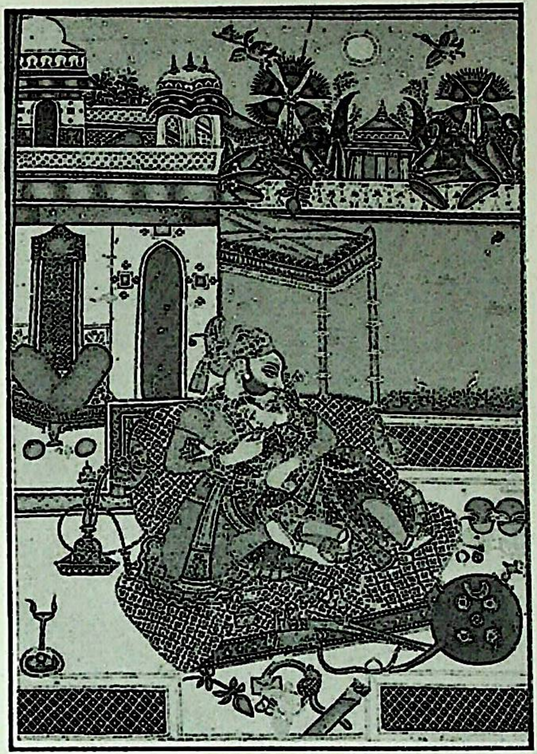

चित्र 8.2 : प्रेमालाप : बूँदी शैली, 18वीं शती मध्य (कुमार संग्रामसिंह, जयपुर के सौजन्य से)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

चित्र 9.1 : अवतार-लीला : बूँदी शैली, 18वीं शती मध्य
(भारत कला भवन, बनारस के सौंजन्य से)

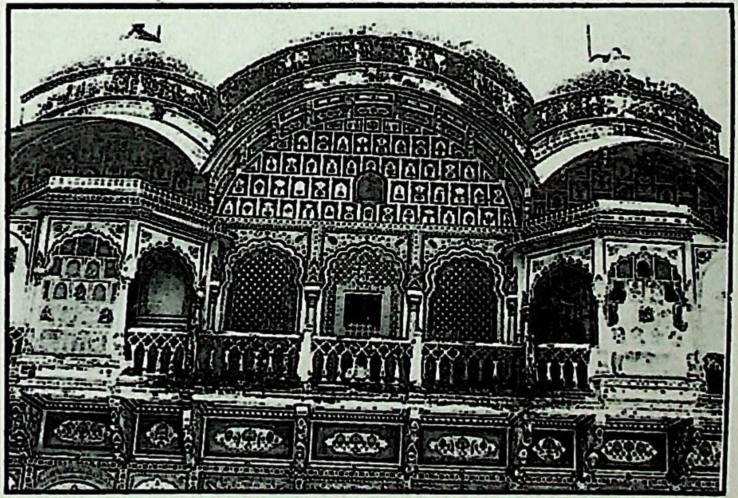

चित्र 9.2 : राजमहल करौली : शिल्पाकंन, 18वीं शती अन्तिम

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्र 10.1 : नर्तकी : अलवर शैली, सन् 1832
(दीवानजी की हवेली के एक भित्ती-चित्र से)

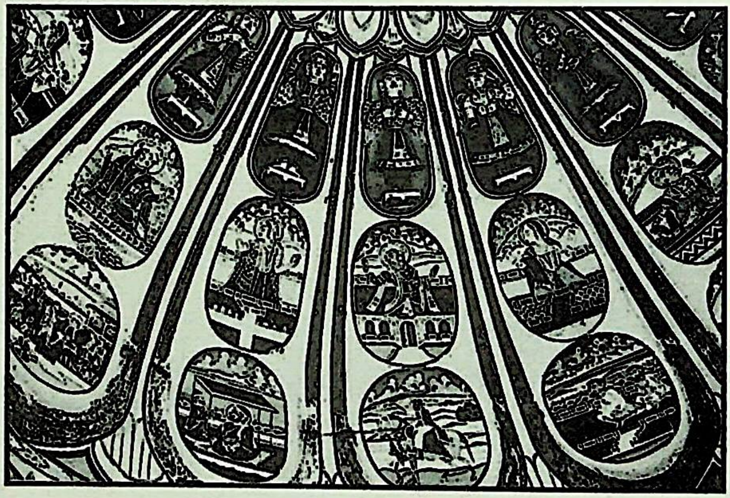

चित्र 10.2 : गोपालसिंह की छतरी : करौली, 19वीं शती अन्तिम

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

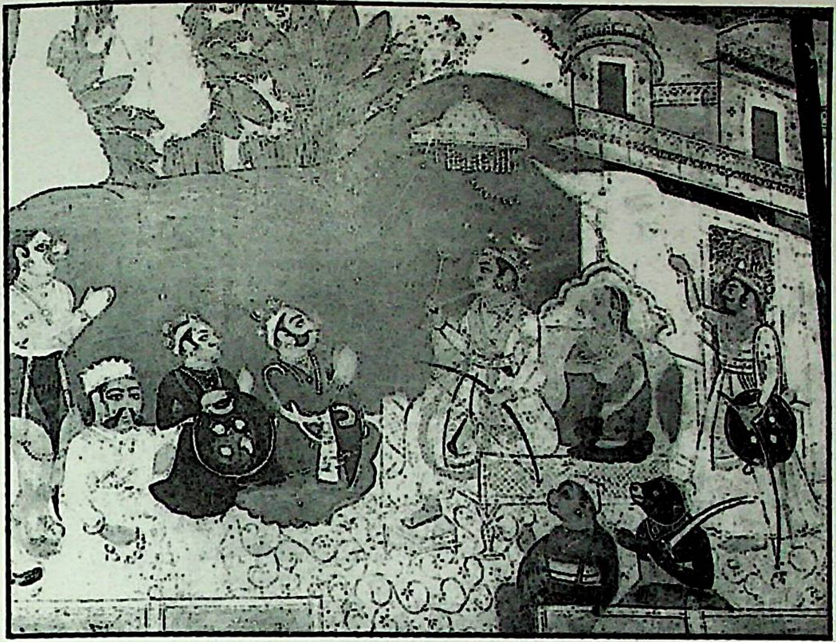

चित्र 11.1 : राम-दरबार - उणियारा शैली, 18वीं शती
(उणियारा महल से)

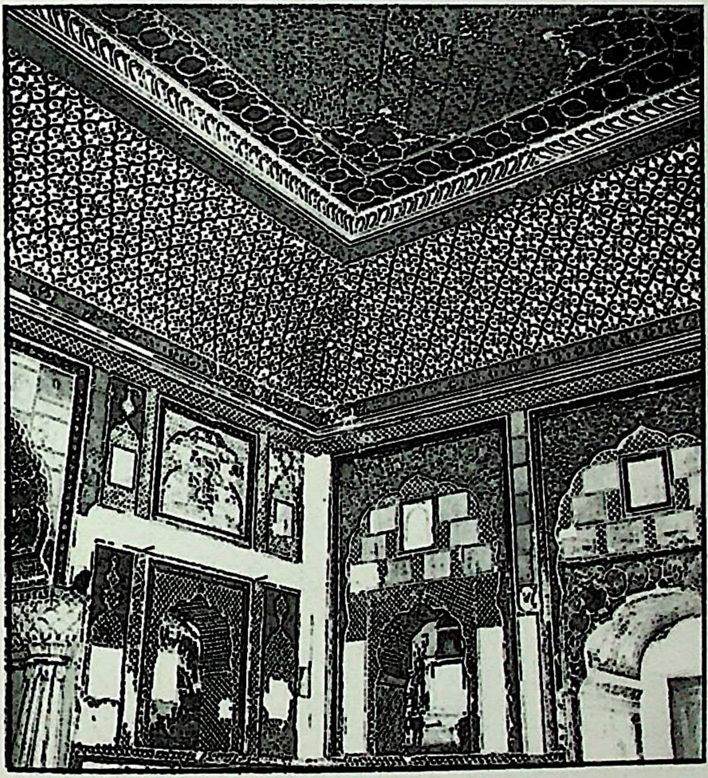

चित्र 11.2 : राजगढ़ का शीशमहल : अलवर शैली, 1775 लगभग

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्र 12 : राव अजीतसिंह, उणियारा शैली, 18वीं शती मध्य

(उणियारा महल से)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

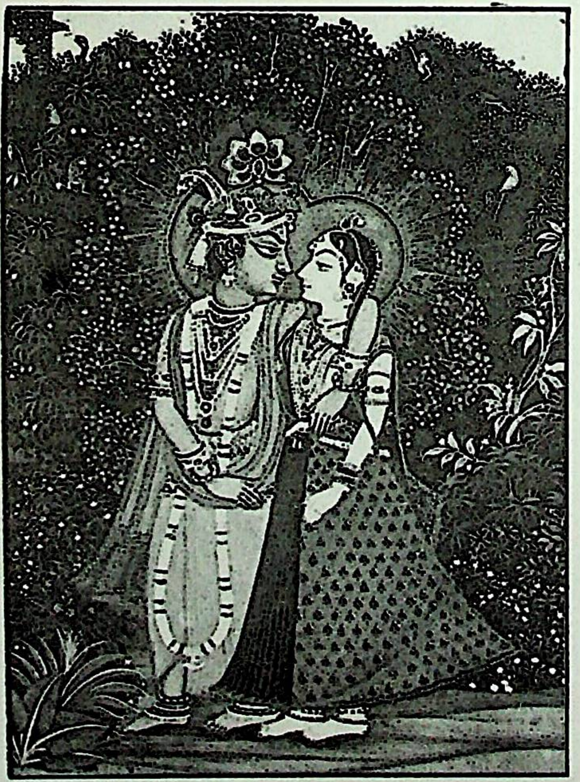

चित्र 13.1 : युगल छवि : जयपुर शैली : लगभग 1775
(कुमार संग्रामसिंह संग्रहालय, जयपुर के सौजन्य से)

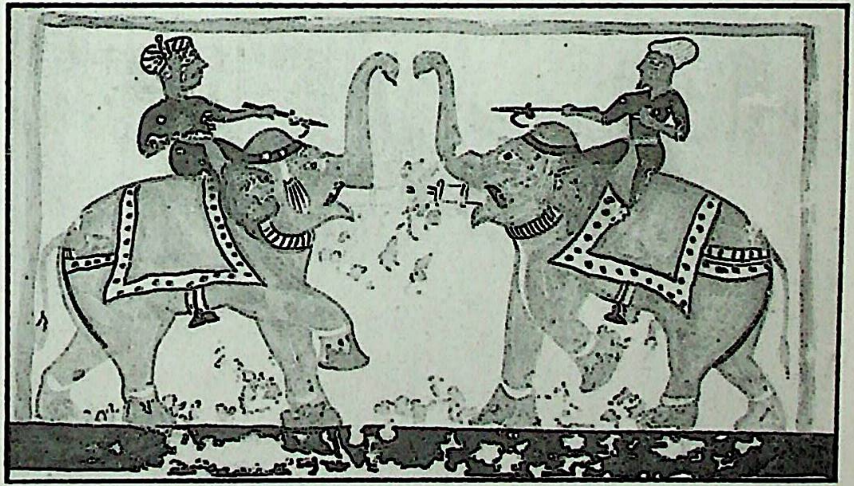

चित्र 13.2 : भित्ती चित्रण : (मानसिंह के महल से) मौजमाबाद, सन् 1610 के लगभग

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri
Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्र 14 : होली : बूँदी शैली, 19वीं शती का भित्ति-चित्र

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

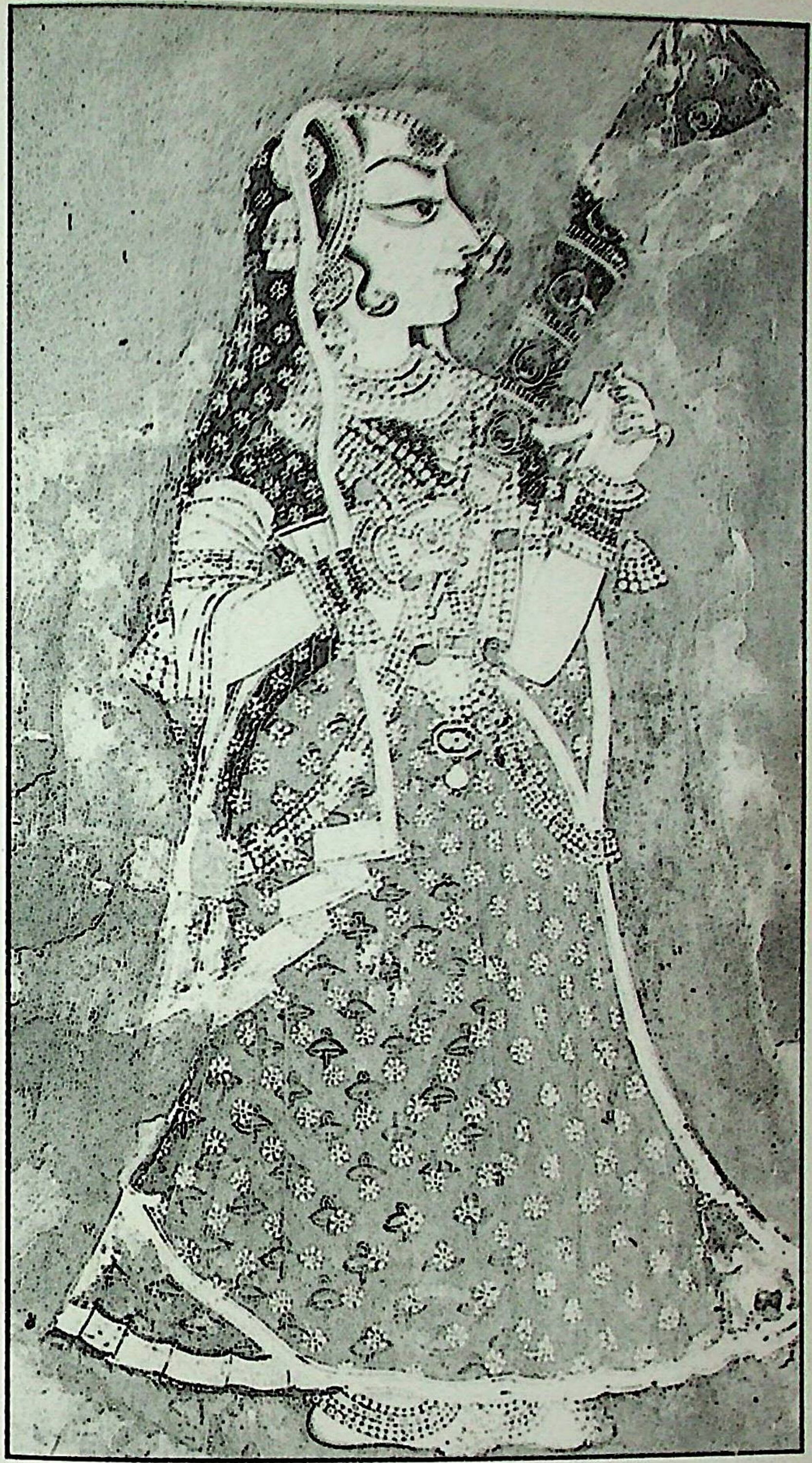

चित्र 15 : नायिका-श्रृंगार : कोटा शैली भित्ती-चित्र, 19वीं शती प्रारम्भ
(बड़ा महल, कोटा से)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

चित्र 16 : चँवर-धारिणी : कोटा शैली, 19वीं शती
(अर्जुन महल, कोटा से)

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi

CC0. In Public Domain, Digitizagtion by eGangotri

राजस्थान प्रदेश में जन्मी एवं भारतीय चित्रकला के विविध आयामों से जुड़ी राजस्थानी चित्रकला आज कला जगत में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। अजंता , एलौरा की परम्परा का वहन करने वाली यह कला अनेक शैलियों, उपशैलियों एवं ठिकाणा-कला के अन्तर्गत यहाँ की रियासतों की राजधानियों, धार्मिक-स्थलों एवं विभिन्न सांस्कृतिक केन्द्रों में समय-समय पर पुष्पित एवं पल्लवित हुई है। राजस्थानी चित्रकला की धरोहर देशी-विदेशी संग्रहालयों में आज भी विस्तृत अध्ययन की बाट जोह रही है। यह पुस्तक इस दृष्टि से प्राथमिक विनम्र पहल है।

डा. जयसिंह नीरज

जन्म	:	11 फरवरी, 1929, ग्राम तोलावास, जिला अलवर, राजस्थान, भारतवर्ष।
शिक्षा	:	एम.ए., पीएच.डी., साहित्यरत्न।
प्रकाशन	:	कविता संकलन–नील-जल सोई परछाइयाँ (63), दुःखान्त समारोह (71), ढाणी का आदमी (85), निबंध एवं शोध–राजस्थानी चित्रकला और हिन्दी कृष्ण-काव्य (76), सृजन के विविध आयाम (83), स्प्लैण्डर ऑफ राजस्थानी पेण्टिंग (91)।
संपादन	:	साहित्यिकी-2 (67), विनय-अलवर अंक (69), राजस्थान की सांस्कृतिक परम्परा (89)।
सम्मान एवं पुरस्कार	:	राजस्थान साहित्य अकादमी–सुधीन्द्र पुरस्कार (85), सोवियत लैण्ड नेहरू पुरस्कार (86), के. के. बिड़ला फाउण्डेशन–प्रथम बिहारी पुरस्कार (91)।
अन्य	:	भारत की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में सैकड़ों लेख एवं रचनाएँ प्रकाशित, दूरदर्शन एवं आकाशवाणी से प्रसारण, शास्त्रीय संगीत एवं फोटोग्राफी के प्रति रुचि।
संप्रति	:	स्वतंत्र लेखन, संपर्क–7-ढ-26, जवाहर नगर, जयपुर, राजस्थान (भारतवर्ष) दूरभाष–567562।

मूल्य 116.00 रुपये मात्र
ISBN 81-7137-106-X

Dr. Urmila Sharma Collection, Varanasi